श्री अरविन्द
जीवन और दर्शन

रवीन्द्र

श्रीअरविन्द : जीवन और दर्शन

रवीन्द्र

श्रीअरविन्द सोसायटी
पांडिचेरी

विषय-सूची

उनके बिना मेरा अस्तित्व नहीं है
मेरे बिना वे अभिव्यक्त नहीं होते।

—श्रीमां
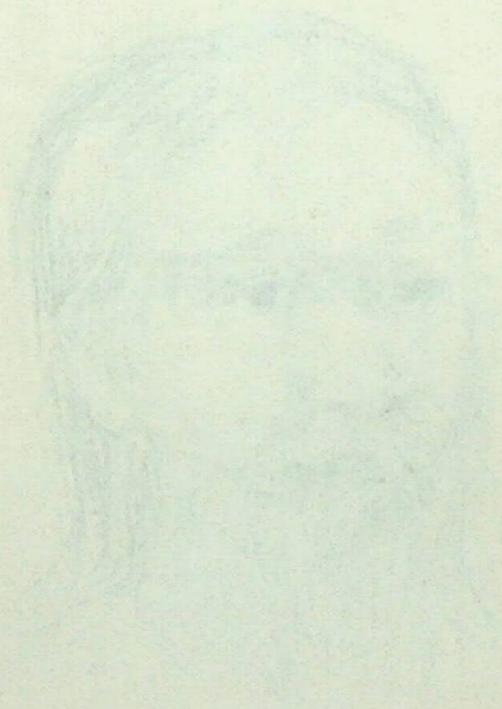
दो शब्द

श्रीअरविन्द के बारे में कुछ लिखने के लिये बहुत आग्रह किया जाता है। लोग कहते हैं, हमें विश्वास है कि महापुरुषों के जीवन-चरित्र हमारे लिये अंधकार में दीपक का काम देते हैं। हम उनका अनुकरण करके अपने जीवन को महान् बना सकते हैं। परंतु लिखनेवालों को अपने सामने एक चट्टान दीखती है। श्रीअरविन्द ने हमेशा अपनी जीवनी लिखनेवालों के उत्साह पर ठंडा पानी डाला। वे एक पत्र में कहते हैं :

"मेरा जीवन-चरित्र लिखना बिलकुल असंभव है। उसे कौन लिख सकता है ? सिर्फ मेरे बारे में ही नहीं, किसी भी कवि, दार्शनिक या योगी की जीवनी लिखने का प्रयास करना व्यर्थ है। ये लोग अपने बाह्य जीवन में नहीं रहते। उनका असली जीवन आंतरिक होता है और कोई अन्य व्यक्ति उसे कैसे देख सकता है ? हां, कर्मरत पुरुषों के बारे में और बात है, जैसे जूलियस सीज़र, नैपोलियन आदि जो अपने कर्म के द्वारा ही विकसित हुए हैं। उनके बारे में भी ज्यादा अच्छा तो यही हो कि वे अपनी आत्म-कथा लिखें।"

इसपर भी हम लोगों की उत्सुकता को शांत करने के लिये यह छोटी-सी जीवनी लिख रहे हैं। इसे "बाज़ी, बाज़ी बा, रीशे बाबा मी बाज़ी" (खेलें खेलें, बाबा की दाढ़ी के साथ खेलें) के सिवाय क्या कहा जा सकता है ? लेकिन हमें विश्वास है कि श्रीअरविन्द ने हमारी इस बालसुलभ धृष्टता को क्षमा कर दिया है।

श्रीअरविन्द के जीवन की घटनाओं का लेखा-जोखा मिलना मुश्किल है। उन्होंने अपनी चीजों का संग्रह करने की कभी कोशिश नहीं की। बड़ौदा-काल की बात है। अंग्रेजी और संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् सर रमेशचंद्र दत्त श्रीअरविन्द से मिलने आये। कुछ रद्दी कागजों पर कुछ लिखा हुआ देखा तो पढ़ने लगे। यह क्या ! यह तो वाल्मीकि रामायण का अंग्रेजी

कविता में अनुवाद था। रमेशचंद्र अपने-आप यह कार्य कर चुके थे। इसलिये इसके मूल्य को जानते थे। उन्होंने श्रीअरविन्द से पूछा : "यह क्या है ?" श्रीअरविन्द ने सहज भाव से उत्तर दिया : "संस्कृत सीख रहा हूं और अभ्यास के लिये इधर-उधर से अनुवाद कर लेता हूं।" रमेश दत्त के मुंह से निकला : "आपके अनुवाद को देखकर मुझे अपना अनुवाद किसी काम का नहीं लगता !"

लैटिन और ग्रीक तो मानों श्रीअरविन्द की घुट्टी में पड़ी थीं। एक बार फ्रेंच पुलिस के अफसर इनके घर की तलाशी लेने आये। श्रीअरविन्द अपने काम में लगे रहे और उनसे कह दिया : "तुम्हें जो देखना हो देख लो।" उन्होंने देखा, श्रीअरविन्द के यहां लैटिन और ग्रीक की पुस्तकें रखी हुई हैं। उन्होंने कहा : "जो आदमी ये किताबें पढ़ता है वह कभी खतरनाक नहीं हो सकता।" वे श्रीअरविन्द से क्षमा मांगते हुए वापस चले गये।

यहां हम श्रीअरविन्द की बतायी हुई मजेदार बातें दे रहे हैं जिन्हें हमारी संक्षिप्त-सी जीवनी में स्थान नहीं मिल सका। इनमें से कुछ उनके पत्र-व्यवहार में से और कुछ वार्तालाप में से चुनी गयी हैं।

गधे के बारे में—गधे के बारे में लोगों की धारणा है कि वह बिलकुल बेवकूफ होता है, पर बात ऐसी नहीं है। एक बार कुछ घोड़ों और गधों को एक साथ एक अहाते में बंद कर दिया गया और दरवाजे पर सांकल लगा दी गयी। घोड़े एकदम असहाय अवस्था में थे। "बेवकूफ गधे" ने ही सांकल उतार कर दरवाजा खोला।

उत्तर और दक्षिण—श्रीअरविन्द भारतवर्ष में उत्तर और दक्षिण के भेदभाव को नहीं मानते थे। उन्होंने भी पश्चिमी विद्वानों के सिद्धांत पढ़े थे जिनके अनुसार उत्तर और दक्षिण के लोगों में जाति और भाषा के भेदों की दीवारें हैं। परंतु दक्षिण भारत में आकर जब उन्होंने यहां के लोगों के चेहरे देखे तो उन्हें पश्चिम के सिद्धांतों का खोखलापन दिखायी दिया। उन्होंने "शुद्ध द्रविड़" कहानेवाले चेहरों में गुजरात, उत्तर भारत और महाराष्ट्र के लोगों के

चेहरे-मोहरे पाये। नृशास्त्र की दृष्टि से वे इसी निष्कर्ष पर पहुंचे कि जातियों में चाहे जितना सम्मिश्रण क्यों न हुआ हो और भौगोलिक कारणों से चाहे कितने परिवर्तन हुए हों, फिर भी सब बाहरी विभिन्नताओं के पीछे समस्त भारत में एक भौतिक और सांस्कृतिक एकता है।

तमिल और संस्कृत—हम पहले कह आये हैं कि श्रीअरविन्द बहुभाषाविद् थे। उनका कहना है कि यह मान्यता ठीक नहीं कि संस्कृत और तमिल एक-दूसरे से बिलकुल अलग हैं। उन्होंने संस्कृत और लैटिन शब्दों के आपसी संबंध के बारे में खोज करते हुए देखा कि बहुत बार तमिल शब्द दोनों के बीच की कड़ी रहे होंगे।

राजनीति से किनारा—श्रीअरविन्द ने कहा : "मैंने राजनीति को इसलिये नहीं छोड़ा कि उस दिशा में और कुछ करना असंभव हो गया था। इस तरह का विचार मुझसे कोसों दूर था। मैं इसलिये अलग हुआ क्योंकि मैं नहीं चाहता था कि कोई भी चीज मेरे योग में बाधक हो। इस बारे में मुझे स्पष्ट आदेश मिल चुका था। मैंने राजनीति से संबंध तोड़ लिया, परंतु उससे पहले मैं जान चुका था कि मैंने इस क्षेत्र में जो काम शुरू किया है वह अवश्य पूरा होगा और उसकी सफलता के लिये मेरी व्यक्तिगत उपस्थिति की जरूरत न होगी। राजनीति से किनारा करने में रंचमात्र भी निराशा या व्यर्थता का भाव न था।"

राजनीतिक लोग—श्रीअरविन्द ने कहा : "जानते हो, चित्तरंजन दास ने अपराधियों के बारे में क्या कहा है ? उनका कहना है, अपने सारे अदालती जीवन में मुझे इतने निकृष्ट प्रकार के अपराधी नहीं मिले जितने राजनीति में पाये जाते हैं।" वे अपने राजनीतिक अनुयायियों को भली-भांति जानते थे।

भारत में तमस्—यह कई कारणों से है। हिंदुस्तान में अंग्रेजों के आने से

पहले ही तामसिक प्रवृत्तियों और छिन्न-भिन्न करनेवाली शक्तियों का जोर हो चला था। उनके आने पर मानों सारा तमस् ठोस बनकर यहां जम गया। कुछ वास्तविक काम होने से पहले यह जरूरी है कि यहां कुछ जागृति आये। तिलक, दास, विवेकानंद—इनमें से कोई साधारण आदमी न था, लेकिन इनके होते हुए भी तमस् बना रहा।

भविष्य के लिये आशा—श्रीअरविन्द कहते हैं : "अगर सब कुछ नष्ट-भ्रष्ट हो जाये, तो भी मैं उस विनाश के परे नये सृजन की राह देखूंगा। आज संसार में जो कुछ हो रहा है उससे मैं जरा भी नहीं घबराता। मैं जानता था कि घटनाएं ऐसा रूप लेंगी। रही बात बौद्धिक आदर्शवादियों की, मैंने उनकी आशाओं को नहीं स्वीकारा, इसलिये मैं निराश भी नहीं होता।"

और इस आशा को ही अपना आधार बनाकर हम अगले पृष्ठों में श्रीअरविन्द के बारे में कुछ जानने का प्रयास करेंगे। प्रत्येक अध्याय में श्रीअरविन्द की विभिन्न पुस्तकों का पूरा-पूरा सहारा लिया गया है। श्रीअरविन्द की बातों को अपनी भाषा में उतारना एक असंभव-सा काम है। इसमें जो त्रुटियां रह गयी हों उनके लिये स्वयं लेखक जिम्मेदार है।

१

प्रारंभिक जीवन

१५ अगस्त, १९४७ को श्रीअरविन्द ने लिखा था :

"१५ अगस्त, १९४७ स्वाधीन भारत का जन्मदिन है। यह दिन भारत के लिये पुराने युग की समाप्ति और नये युग का प्रारंभ सूचित करता है। परंतु हम एक स्वाधीन राष्ट्र के रूप में अपने जीवन और कार्यों के द्वारा इसे ऐसा महत्त्वपूर्ण दिन भी बना सकते हैं जो संपूर्ण जगत् के लिये, सारी मानव-जाति के राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक भविष्य के लिये नव युग लानेवाला सिद्ध हो।

"१५ अगस्त मेरा अपना जन्मदिन है और स्वभावतः ही यह मेरे लिये प्रसन्नता की बात है कि इस दिन ने इतना विशाल अर्थ तथा महत्त्व प्राप्त कर लिया है। परंतु इसके भारतीय स्वाधीनता-दिवस भी हो जाने को मैं कोई आकस्मिक संयोग नहीं मानता, बल्कि यह मानता हूं कि जिस कर्म को लेकर मैंने अपना जीवन आरंभ किया था उसको मेरा पथ-प्रदर्शन करनेवाली भागवती शक्ति ने इस तरह मंजूर कर लिया है और उसपर अपनी मुहर भी लगा दी है और वह कार्य पूर्ण रूप से सफल होना आरंभ हो गया है। निःसंदेह, आज के दिन मैं प्रायः उन सभी जागतिक आंदोलनों को—जिन्हें मैंने अपने जीवनकाल में ही सफल देखने की आशा की थी, यद्यपि उस समय वे असंभव स्वप्न जैसे ही दिखायी देते थे—सफल होते हुए या अपनी सफलता के मार्ग पर जाते हुए देख सकता हूं। इन सभी आंदोलनों में स्वाधीन भारत एक बड़ी भूमिका अच्छी तरह अदा कर सकता और एक प्रमुख स्थान ग्रहण कर सकता है।

"इन स्वप्नों में पहला था एक क्रांतिकारी आंदोलन जो स्वाधीन और एकीभूत भारत को जन्म दे। भारत आज स्वाधीन हो गया है पर उसने एकता नहीं प्राप्त की है। एक समय प्रायः ऐसा दीखता था मानों अपने

स्वाधीन होने की प्रक्रिया में ही वह फिर से पृथक्-पृथक् राज्यों की उस अव्यवस्थापूर्ण स्थिति में जा गिरेगा जो विजय से पहले विद्यमान थी। परंतु सौभाग्य से अब ऐसी प्रबल संभावना हो गयी है कि यह संकट टल जायेगा और अभी पूर्ण न सही, पर एक विशाल तथा शक्तिशाली एकत्व अवश्य स्थापित हो जायेगा। विधान-परिषद् की दूरदर्शितापूर्ण प्रबल नीति ने इस बात को संभव बना दिया है कि दलित वर्गों की समस्या बिना फूट-फुटाव के हल हो जायेगी। परंतु हिंदुओं और मुसलमानों का पुराना सांप्रदायिक भेद देश के स्थायी राजनीतिक विभाजन के रूप में सुदृढ़ हो गया दीखता है। यह आशा करनी चाहिये कि इस तय किये गये विभाजन को पत्थर की लकीर नहीं मान लिया जायेगा और इसे एक काम-चलाऊ अस्थायी उपाय से बढ़कर और कुछ न माना जायेगा। क्योंकि यदि यह कायम रहे तो भारत भयानक रूप में दुर्बल और अपंग तक हो सकता है; गृह-कलह का होना सदा ही संभव बना रह सकता है, नये आक्रमण और विदेशी राज्य का हो जाना तक संभव हो सकता है, भारत की आंतरिक उन्नति और समृद्धि रुक सकती है, राष्ट्रों के बीच उसकी स्थिति दुर्बल हो सकती है, उसका भविष्य कुंठित, यहांतक कि व्यर्थ भी हो सकता है। यह नहीं होना चाहिये; देश का विभाजन अवश्य दूर होना चाहिये। हम आशा करें कि यह कार्य स्वाभाविक रूप से ही हो जायेगा, न केवल शांति और मेल-मिलाप की, बल्कि मिल-जुलकर काम करने की भी आवश्यकता को उत्तरोत्तर समझ लेने तथा मिल-जुलकर काम करने के अभ्यास और उसके लिये साधनों को उत्पन्न कर लेने से संपन्न हो जायेगा। इस प्रकार अंत में एकता चाहे किसी भी रूप में आ सकती है,—उसके ठीक-ठीक रूप का व्यावहारिक महत्त्व भले ही हो, पर कोई प्रधान महत्त्व नहीं। परंतु चाहे किसी भी उपाय से हो, चाहे किसी भी प्रकार से हो, विभाजन अवश्य हटना चाहिये, एकता अवश्य स्थापित होनी चाहिये और स्थापित होगी ही, क्योंकि भारत के भविष्य की महानता के लिये यह आवश्यक है।

"दूसरा स्वप्न था एशिया की जातियों का पुनरुत्थान तथा स्वातंत्र्य और मानव सभ्यता की उन्नति के कार्य में एशिया का जो महान् स्थान पहले था

उसी स्थान पर उसका लौट जाना। एशिया जग गया है; उसके बड़े-बड़े भाग स्वतंत्र हो गये हैं या इस समय बंधन-मुक्त हो रहे हैं; इसके अन्य भाग जो अभी परतंत्र या अंशतः परतंत्र हैं वे भी, चाहे कैसे भी घोर संघर्ष में से गुजरते हुए, स्वतंत्रता की ओर बढ़ रहे हैं। केवल थोड़ा ही करना बाकी है और वह आज न सही, कल पूरा हो जायेगा। उसमें भारत को अपनी भूमिका अदा करनी है और उसे उसने एक ऐसी सामर्थ्य और योग्यता के साथ करना शुरू कर दिया है जो अभी से उसकी संभावनाओं की मात्रा को तथा उस स्थान को सूचित करती है जिसे वह राष्ट्रों की सभा में ग्रहण कर सकता है।

"तीसरा स्वप्न था एक विश्वसंघ जो समस्त मानवजाति के लिये एक सुंदरतर, उज्ज्वलतर और महत्तर जीवन का बाहरी आधार निर्मित करे। मानव संसार का वह एकीकरण प्रगति के पथ पर है। एक अधूरा आरंभ संगठित किया गया है पर वह बड़ी भारी कठिनाइयों के विरुद्ध संघर्ष कर रहा है। किंतु उसमें एक वेग है और वह अनिवार्य रूप से बढ़ता चला जायेगा और विजयी होगा। इस कार्य में भी भारतवर्ष ने प्रमुख भाग लेना आरंभ कर दिया और, यदि वह उस अधिक विशाल राजनीतिज्ञता को विकसित कर सके जो वर्तमान घटनाओं और तात्कालिक संभावनाओं से ही सीमित नहीं होती, बल्कि भविष्य को देख लेती और उसे निकट लाती है, तो भारत की उपस्थिति मंद एवं भीरुतापूर्ण विकास और द्रुत एवं साहसपूर्ण विकास में जो महान् भेद है उसे प्रदर्शित कर सकती है। जो कार्य किया जा रहा है उसमें महान् विपत्ति आ सकती है और वह उसमें बाधा डाल सकती है या उसे नष्ट कर सकती है, किंतु तो भी अंतिम परिणाम निश्चित है। क्योंकि एकीकरण प्रकृति की आवश्यकता है; अनिवार्य गति है। इसकी आवश्यकता राष्ट्रों के लिये स्पष्ट है; क्योंकि इसके बिना छोटे-छोटे राष्ट्रों की स्वाधीनता किसी भी क्षण खतरे में पड़ सकती है और बड़े तथा शक्तिशाली राष्ट्रों का भी जीवन असुरक्षित हो सकता है। इसलिये इस एकीकरण में ही सब का हित है और केवल मानवीय निःशक्तता तथा मूर्खतापूर्ण स्वार्थपरता ही इसे रोक सकती है; परंतु ये भी प्रकृति की आवश्यकता और

भगवान् की इच्छा के विरुद्ध हमेशा नहीं ठहर सकतीं। परंतु एक बाहरी आधार ही पर्याप्त नहीं है, अंतर्राष्ट्रीय भाव और दृष्टिकोण भी अवश्य विकसित होने चाहियें, अंतर्राष्ट्रीय पद्धति तथा संस्थाएं भी अवश्य प्रादुर्भूत होनी चाहियें, शायद इस प्रकार की प्रगतियां भी पैदा हों, जैसे कि दो या अनेक देशों का एकसंग नागरिक होना, संस्कृतियों का आपस में ऐच्छिक दान-प्रतिदान या उनका स्वेच्छापूर्वक घुलना-मिलना। राष्ट्रीयता तब अपने-आपको चरितार्थ कर चुकी होगी और अपनी युद्धप्रियता को छोड़ चुकी होगी, और तब वह ऐसी चीजों को आत्म-संरक्षण तथा अपनी दृष्टि की अखंडता से असंगत नहीं अनुभव करेगी। एकत्व की एक नयी भावना मनुष्य-जाति पर आधिपत्य जमा लेगी।

"चौथा स्वप्न, संसार को भारत का आध्यात्मिक दान, पहले से ही प्रारंभ हो चुका है। भारत की आध्यात्मिकता यूरोप और अमरीका में नित्य बढ़ती हुई मात्रा में प्रवेश कर रही है। यह आंदोलन बढ़ेगा; वर्तमान काल की विपदाओं के बीच अधिकाधिक लोगों की आंखें आशा के साथ भारत की ओर मुड़ रही हैं और न केवल उसकी शिक्षाओं का, अपितु उसकी आंतरात्मिक और आध्यात्मिक साधना का भी उत्तरोत्तर आश्रय लिया जा रहा है।

"अंतिम स्वप्न था क्रम-विकास में अगला कदम जो मनुष्य को एक उच्चतर और विशालतर चेतना में उठा ले जायेगा और उन समस्याओं का हल करना प्रारंभ कर देगा जिन समस्याओं ने मनुष्य को तभी से हैरान और परेशान कर रखा है जबसे उसने वैयक्तिक पूर्णता और पूर्ण समाज के विषय में सोचना-विचारना शुरू किया था। यह अभीतक एक व्यक्तिगत आशा और विचार और आदर्शमात्र है जिसने भारत और पश्चिम में, दोनों जगह दूरदर्शी विचारकों को वश में करना शुरू कर दिया है। इस मार्ग की कठिनाइयां प्रयास के किसी भी अन्य क्षेत्र की अपेक्षा बहुत अधिक जबर्दस्त हैं, परंतु कठिनाइयां जीती जाने के लिये ही बनी थीं और यदि दिव्य परम इच्छा-शक्ति का अस्तित्व है तो वे दूर होंगी ही। यहां भी, यदि इस विकास को होना है तो, चूंकि यह आत्मा और आंतर चेतना की अभिवृद्धि द्वारा ही

होगा, इसका प्रारंभ भारतवर्ष ही कर सकता है और यद्यपि इसका क्षेत्र सार्वभौम होगा, तथापि केंद्रीय आंदोलन भारत ही करेगा।

"ये हैं वे भाव और भावनाएं जिनको मैं भारतीय स्वाधीनता की इस तिथि के साथ संबद्ध करता हूं। क्या ये आशाएं ठीक सिद्ध होंगी या कहांतक सिद्ध होंगी, यह बात नये और स्वाधीन भारत पर निर्भर करती है।"

कितने महान् स्वप्न हैं! स्वप्न अपने-आपमें महान् हैं, पर स्वप्न-द्रष्टा उनसे कहीं अधिक महान् हैं। माताजी ने कहा है :

"श्रीअरविन्द संसार के इतिहास में जिस चीज का प्रतिनिधित्व करते हैं वह कोई विशिष्ट शिक्षा नहीं है, वह कोई ईश्वरीय ज्ञान भी नहीं है, वह है एक निर्णायक क्रिया जो सीधी परात्पर भगवान् से आयी है।"

हमारी दृष्टि में यह स्वाधीन भारत के लिये आधारपत्र है जिसका पूरा होना अनिवार्य और अवश्यंभावी है।

ऐसे व्यक्ति के बारे में कुछ लिखते हुए लेखनी को संकोच होता है। स्वयं श्रीअरविन्द ने कहा है कि उनका जीवन बाह्य स्तर पर नहीं रहा है कि मनुष्य उसे देख सकें। आंतरिक जीवन के बारे में उन्हें छोड़कर और कौन बोल सकता है ? यह सब जानते हुए भी उनके जीवन की कुछ छोटी-मोटी घटनाओं को, उनके कार्य को जानने की इच्छा होती है और अपनी इस पुस्तक के द्वारा हम उनके कार्य के बारे में कुछ जानने का प्रयास करेंगे। हमारा यह प्रयास वैसा ही होगा जैसे कोई नन्हा बालक समुद्र के किनारे बैठकर रेत के कण गिनना शुरू करे और उनके आधार पर समुद्र के बारे में कुछ जानने का दावा करे।

कहते हैं, जब धरती के कष्ट बहुत बढ़ जाते हैं, नास्तिकता का राज्य होने लगता है और लोग अपने बनानेवाले को भूल जाते हैं, तो धरती के अंतर से एक पुकार उठती है जो सब प्रकार के व्यवधानों को चीरती हुई

अपने लक्ष्य तक जा पहुंचती है। उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में कुछ ऐसी ही अवस्था थी। भारत दासता की जंजीरों में जकड़ा हुआ था। वह अपनी भारतीयता को भुलाता जा रहा था। उसे एक नये प्राण की आवश्यकता थी। उसे आवश्यकता थी एक ऐसे व्यक्ति की जो उसे तमस् में से निकालकर ज्योति की ओर ले जा सके, जो उसे मृत्यु के मुख से निकालकर अमरता प्रदान करे। यह सब केवल इसलिये नहीं कि भारत महान् हो सके, वह दूसरों पर अपना फौलादी पंजा कस सके, बल्कि इसलिये कि इस चतुर्युगी में सारे संसार को आध्यात्मिक संदेश देने का कार्य भारत को ही सौंपा गया है।

ऐसी परिस्थितियों में श्रीअरविन्द ने १५ अगस्त, १८७२ को पूरी तरह से यूरोपीय आदर्श से प्रभावित पिता के घर जन्म लिया। पिता की इच्छा थी कि बालक को कहीं भारतीय हवा न लगने पाये, इसलिये शुरू से ही सारी शिक्षा-दीक्षा अंग्रेजी भाषा में और अंग्रेजों की देख-रेख में हुई। इन्हें पहले दार्जिलिंग के मिशन स्कूल में भरती किया गया और फिर १८७९ में, जब वे सात वर्ष के थे, अपने अन्य दो भाइयों के साथ इन्हें इंग्लैंड पहुंचा दिया गया और वहां ऐसी व्यवस्था की गयी कि इनपर भारतीयता की छायातक न पड़ने पाये। इनके अभिभावक सेंट पॉल स्कूल के मुख्याध्यापक मि० डूएट ने इन्हें ग्रीक सिखायी और अपने स्कूल की उच्च कक्षाओं में भरती कर लिया। वहांपर उन्होंने अपनी पाठ्यपुस्तकों पर तो सरसरी नजर दौड़ायी और अपना शेष समय अधिक व्यापक अध्ययन, विशेषतः अंग्रेजी काव्य, साहित्य एवं गल्प तथा फ्रेंच साहित्य और प्राचीन, मध्ययुगीन एवं अर्वाचीन यूरोप के इतिहास के अनुशीलन में ही व्यतीत किया। उन्होंने ग्रीक और लैटिन तथा अंग्रेजी और फ्रेंच भाषाओं पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लिया तथा जर्मन, इटालियन, स्पेनिश आदि अन्य यूरोपीय भाषाओं का भी परिचय प्राप्त किया।

अपने पिता की इच्छा पूरी करने के लिये वे आई० सी० एस० की परीक्षा में बैठे पर जान-बूझकर घुड़सवारी की परीक्षा न दी और इस तरह अपने-आपको अनुत्तीर्ण करवा लिया। इन्हीं दिनों बड़ौदा के सर सयाजीराव

गायकवाड़ के साथ उनका परिचय हुआ और परिणाम-स्वरूप उनकी नियुक्ति बड़ौदा में हो गयी। वहां वे पहले भूमि-व्यवस्था-विभाग में रहे और फिर कई स्थान बदलते-बदलते बड़ौदा कॉलिज के वाइस-प्रिंसिपल हो गये। इसके साथ-ही-साथ महाराज को जब जरूरत पड़ती तो अपने भाषण तैयार करने के लिये अथवा आवश्यक पत्र लिखने के लिये श्रीअरविन्द को बुला भेजते थे।

इंग्लैंड में रहते हुए श्रीअरविन्द ने यह निश्चय कर लिया था कि वे अपना जीवन देशसेवा में लगायेंगे और देश की स्वाधीनता के लिये काम करेंगे। भारत आने के बाद उन्होंने अपना नाम दिये बिना ही राजनीतिक विषयों पर एक लेखमाला लिखनी शुरू कर दी—"न्यू लैम्प्स फॉर ओल्ड।" उस समय के नेताओं ने इनके लेखों को बहुत उग्र माना और उनका प्रकाशन रुकवा दिया। श्रीअरविन्द ने देखा कि अभी परिस्थितियां अनुकूल नहीं हैं और देश उनके कार्यक्रम को स्वीकार करने में असमर्थ है, इसलिये वे पर्दे के पीछे रहकर चुपचाप काम करते रहे। अपने सार्वजनिक कार्यों में उन्होंने असहयोग एवं निष्क्रिय प्रतिरोध को स्वाधीनता-संग्राम के साधन के रूप में अपनाया था। पर हां, वे सिद्धांत रूप में अहिंसावादी न थे। उनके मन में मेजिनी तथा जॉन ऑफ आर्क के लिये बहुत आदर था।

उन दिनों भी श्रीअरविन्द की कार्यशैली यह नहीं थी कि वे पहले से सोच-विचारकर कोई योजना बनायें। वे अपने सामने एक निश्चित लक्ष्य रखकर घटनाओं का निरीक्षण करते और शक्तियों को तैयार करते रहते थे और जब उपयुक्त समय लगता तब कार्यक्षेत्र में उतर पड़ते थे।

यहां हम इस बात की ओर संकेत करते चलें कि अभीतक श्रीअरविन्द ने योग शुरू नहीं किया था। यह और बात है कि बिना प्रयास के, बिना किसी तैयारी के उन्हें कई ऐसी अनुभूतियां हो चुकी थीं जिनमें से एक-एक को पाने के लिये बड़े-बड़े साधक अपना सारा जीवन बिता देते हैं। जिस दिन श्रीअरविन्द इंग्लैंड से लौटे तो भारत की भूमि पर पांव रखते ही उन्हें एक असीम शांति का अनुभव हुआ। इतने वर्षों से बिछुड़े हुए लाल को भारत मां का यह पहला उपहार था। यह शांति हमेशा उनके साथ रही और

कठिन-से-कठिन परिस्थितियों में भी उनकी रक्षा करती रही। साथ ही आनेवाली कठिनाइयों ने भी रसास्वादन करा दिया। उन्हें पता चला कि उनके पिता को यह गलत समाचार मिला कि जिस जहाज में उनकी आंखों का तारा आ रहा था वह समुद्र में डूब गया। पिता को श्रीअरविन्द से बड़ी-बड़ी आशाएं थीं। समस्त आशाओं के विलीन होने का समाचार सुनकर पिता की जीवन-नौका भी डूब गयी। शायद श्रीअरविन्द के जीवन में आनेवाली कठिनाइयों का यह प्रथम आभास था।

एक दिन श्रीअरविन्द बड़ौदा के पास किसी गांव में टहल रहे थे। पास काली का एक मंदिर था, वे उस तरफ चले गये और बिना किसी तैयारी के उन्हें काली की मूर्ति में एक जीवित-जागृत् शक्ति के दर्शन हुए। इसी प्रकार कश्मीर में तख्ते-सुलेमान पर खड़े होते ही उन्हें निर्वाण का अनुभव प्राप्त हो गया जो बहुतों के लिये परम लक्ष्य है।

ये सब चीजें अपने-आप होती जा रही थीं। भगवान् की ओर से छप्पर फाड़कर उपहार-पर-उपहार दिये जा रहे थे। उधर सचेतन रूप से श्रीअरविन्द अपनी सारी शक्ति भारत मां के चरणों पर न्यौछावर कर रहे थे। इन्हीं दिनों 'भवानी मंदिर' की योजना बनायी गयी जिसके अनुसार ऐसे मतवालों की एक सेना तैयार करनी थी जो अपना सब कुछ त्याग कर, हथेली पर सिर रखे मां की सेवा के लिये प्रस्तुत हों। अभी ये सब तैयारियां हो रही थीं, नक्शे में रंग भरा जा रहा था कि रंग में भंग हो गया। सरकार ने बंगाल का विभाजन कर दिया और पूरी तैयारी के बिना ही क्रांतिकारी लोग इसके विरुद्ध आंदोलन में कूद पड़े। स्वाधीनता के सेनानियों तथा सामान्य जनता की पूरी तैयारी नहीं हो पायी थी, इसलिये समुचित रूप से सफलता न मिल सकी।

राजनीतिक काम बढ़ता जा रहा था। देश की पुकार निरंतर जोरदार होती जा रही थी। श्रीअरविन्द ने बड़ौदा का काम छोड़ दिया और बंगाल में आकर डेरा डाला। वहां राष्ट्रीय महाविद्यालय के आचार्य के रूप में कुछ दिनों तक काम किया। वहां जगदीशचंद्र बसु, रवींद्रनाथ ठाकुर आदि इनके सहयोगी थे। पर्दे के पीछे रहते हुए वे क्रांतिकारी आंदोलन का पथ-प्रदर्शन

भी करते रहे। १९०६ में वे 'वन्दे मातरम्' दैनिक के कर्ता-धर्ता बन गये। नाम के लिये तो और लोग संपादन करते थे, पर सचमुच जिम्मेदारी श्रीअरविन्द की ही थी। 'वन्दे मातरम्' अपने समय का सबसे अधिक लोकप्रिय पत्र रहा है जिसने हजारों युवकों के अंदर एक नयी जान ला दी। यह पत्र विदेशी वस्तुओं तथा विदेशी सत्ता के बहिष्कार, स्वदेशी के प्रचार, राष्ट्रीय शिक्षण तथा निष्क्रिय प्रतिरोध के कार्यक्रम को लेकर चला था जिसका उद्देश्य था एक समानांतर सरकार खड़ी कर देना। श्रीअरविन्द ने 'वन्दे मातरम्' के नारे में एक ऐसी शक्ति भर दी कि विदेशी सरकार का एक-एक आदमी उससे भड़क उठता था।

२

नेता के रूप में

देश में रानाडे, गोखले, फीरोजशाह मेहता के नेतृत्व में जो नरम दल की नीति चल रही थी, सरकार के सामने अर्जियां गुजारने की जो आदत पड़ गयी थी, श्रीअरविन्द ने उसका घोर विरोध किया और तिलक के साथ मिलकर वाम-पक्ष की जड़ें मजबूत कर दीं। इसका परिणाम हम सूरत-कांग्रेस में देखते हैं जहां कांग्रेस में जवरदस्त फूट पड़ी और उसके जीवन में एक नये अध्याय का आरंभ हुआ।

यहांपर यह जान लेना अप्रासंगिक न होगा कि श्रीअरविन्द भारत की स्वाधीनता को इतना महत्त्व क्यों देते थे और भारत से उनका मतलब क्या है। वे बड़ौदा में रहते हुए लिखते हैं :

"राष्ट्र क्या है ? हमारी मातृभूमि क्या है ? वह धरती का एक टुकड़ा या कोई शब्दालंकार नहीं है। वह एक महान् शक्ति है और राष्ट्र के करोड़ों व्यक्तियों की शक्ति से मिलकर बनी हुई इकाई है।"

वे कहते हैं :

"स्वाधीन भारत लकड़ी या पत्थर का टुकड़ा नहीं है जिसपर छेनी चलाकर राष्ट्र की मूर्ति तैयार कर ली जा सके। वह अपने चाहनेवालों के हृदय में निवास करता है और उन्हींमें से उसका उत्थान होगा। हम अपने जीवन में स्वराज्य को कैसे ला सकते हैं ? अपने अंदर से अहं को हटाकर, उसकी जगह भारत की प्रतिष्ठा करके। जैसे चैतन्य निमाई पंडित न रहकर कृष्ण, राधा या बलराम बन जाते थे उसी तरह हममें से हर एक को अपना अलग जीवन छोड़कर राष्ट्र में जीवित रहना चाहिये। जैसे मोक्ष चाहनेवाला सब कुछ छोड़कर केवल मोक्ष की ही सोचता है, वैसे ही हमें सदा अपने राष्ट्र के पुनरुत्थान में रम जाना चाहिये। मां को स्वाधीन और महान् देखने का हमारा पागलपन वैसा ही होना चाहिये जैसा श्रीकृष्ण के दर्शन करने के

लिये चैतन्य का था। देश के लिये हमारा बलिदान वैसा ही उत्साहपूर्ण और बिना कोर-कसर का होना चाहिये जैसा जगाई-मधाई का था जिन्होंने भगवान् गौरांग के संकीर्तन में भाग लेने के लिये अपना राजवैभव छोड़ दिया। हम आज भी अपने छोटे-से व्यक्तित्व और देश के बीच में चुनाव नहीं कर पाते। हम रुपये में एक आना तो देशसेवा के लिये देते हैं और पंद्रह आने अपने-अपने बाल-बच्चों, अपनी संपत्ति, अपने नाम, अपनी सुरक्षा और अपने ऐश-आराम के लिये रखते हैं। लेकिन मां अपने-आपको हमें देने से पहले हमारे सब कुछ की मांग करती हैं।

"हम औद्योगिक पुनरुत्थान, शिक्षा, राजनीति आदि के पुनरुत्थान की योजनाएं बनाते हैं, लेकिन ये सब गौण हैं उस आंतरिक पुनरुत्थान के सामने जिसकी हमें आवश्यकता है। मां हमसे विचारों की, योजनाओं की, विधि-विधानों की मांग नहीं करतीं। वे अपने-आप अपनी योजनाएं, पद्धतियां और अपने विधि-विधान देंगी। उनकी मांग है हमारे हृदयों के लिये, हमारे जीवन के लिये—इससे कुछ भी कम या अधिक नहीं।

"पुनरुत्थान वास्तव में पुनर्जन्म है, ऐसा पुनर्जन्म जो बुद्धि, बड़ी-सी थैली, नीति, बाह्य परिवर्तन आदि के द्वारा नहीं लाया जा सकता। वह आयेगा एक नूतन हृदय के द्वारा, वह आयेगा हम जो कुछ भी हैं, उसे यज्ञ की अग्नि में फेंककर अक्षर जन्म लेने से। हमसे आत्म-त्याग की मांग की जा रही है। मां पूछती हैं, तुममें से कितने हैं जो मेरे लिये जी सकें और मेरे लिये मर सकें ?

"मां उत्तर की प्रतीक्षा में हैं।"

आज देश को स्वाधीनता पाये पचास वर्ष से अधिक हो चुके हैं, फिर भी ये शब्द उतना ही महत्त्व रखते हैं। आज भी मां हमारे उत्तर की प्रतीक्षा में हैं। श्रीअरविन्द का कहना है कि भारत अपने लिये नहीं उठ रहा, वह उठ रहा है मानवता के लिये, भगवान् के लिये। उसका मुख्य काम है यहां, इस पार्थिव जगत् में, भगवान् का राज्य स्थापित करना, अभीतक जहां अविद्या, अंधकार और जड़ता का राज्य है वहां ज्ञान, चेतना और आलोक का राज्य लाना, संसार से घृणा और वैमनस्य को हटाकर प्रेम को आसीन करना।

भारत अगर उठ रहा है तो इसी उद्देश्य के लिये, इससे छोटा कोई लक्ष्य उसके लिये उपयुक्त नहीं है।

श्रीअरविन्द ने कहा : "पश्चिम के लोग भौतिक जीवन को उसकी चरम सीमा तक पहुंचा चुके हैं। इंग्लैंड का क्रिया-कौशल, फ्रांस की तर्कसंगत बुद्धि, जर्मनी की विचारशील प्रतिभा, रूस की भावप्रवण शक्ति, अमरीका की व्यापार-शक्ति मानव प्रगति के लिये जो कुछ कर सकती थीं कर चुकीं। अब एक ऐसी चीज की जरूरत है जिसे देना यूरोप के बस की बात नहीं। ठीक ऐसे अवसर पर एशिया फिर से जाग उठा है, क्योंकि दुनिया को उसकी जरूरत है। एशिया संपूर्ण जगत् के हृदय की शांति का रखवाला है, यूरोप की पैदा की हुई बीमारियों को ठीक करनेवाला है। यूरोप ने भौतिक विज्ञान, नियंत्रित राजनीति, उद्योग, व्यापार आदि में बहुत प्रगति कर ली है। अब भारत का काम शुरू होता है। उसे इन सब चीजों को अध्यात्म-शक्ति के आधीन करके धरती पर स्वर्ग बसाना है। यूरोप की चमक-दमक, तर्क-बुद्धि, सुव्यवस्था, प्राण-शक्ति के साथ संपर्क पैदा करने के लिये ही इंग्लैंड को हिंदुस्तान में पांव जमाने दिये गये थे और जब उसका कार्य पूरा हो गया तो वह उतनी ही आसानी से चला गया जितनी आसानी से आया था। आज हमें अपने देश में पुनः संगठन करना है ताकि भौतिक शक्ति आध्यात्मिक शक्ति के साथ मिलकर काम कर सके, ताकि अंतर और बाह्य में एक सामंजस्य पैदा हो सके।" यही था श्रीअरविन्द की राजनीति का मुख्य संदेश।

श्रीअरविन्द 'वन्दे मातरम्' का प्रकाशन इसी उद्देश्य से करते थे। वे 'वन्दे मातरम्' के लेख इस चतुराई से लिखते थे कि 'स्टेट्समैन' के संपादक को कहना पड़ा : "इस अखबार की पंक्ति-पंक्ति में राजद्रोह भरा है, परंतु वह इतनी अच्छी तरह छिपाया गया है कि कहीं भी कानून की पकड़ में नहीं आ सकता।" इन्हीं दिनों उस समय के वायसरॉय के सचिव ने अपने गुप्त पत्रों में लिखा था : "इस समय देश में जो राजद्रोह की लहर चल रही है उसकी जड़ श्रीअरविन्द हैं जो प्रकट रूप से उसमें भाग नहीं लेते, परंतु यदि

सब अपराधियों को जेल में ठूंस दिया जाये और इस एक आदमी को बाहर रहने दिया जाये तो वह फिर से चुपचाप बागियों की सेना तैयार कर लेगा।" खैर, श्रीअरविन्द को कानूनी पकड़ में लेने की कोशिश की गयी और उन्हें पूरे एक वर्ष तक हवालात में रहना पड़ा, लेकिन "जाको राखे साइयां, मेट सके कब कोय ?" अदालत में अपराध सिद्ध न हो सका और श्रीअरविन्द मुक्त कर दिये गये। हां, कारावास के इस वर्ष ने श्रीअरविन्द की बहुत सहायता की। जैसे भारत की जमीन पर पांव रखते ही उन्होंने एक असीम शांति का अनुभव किया था उसी तरह जेल में रहकर "*वासुदेवम् इदं सर्वम्*" का अनुभव हो गया। उन्होंने देखा, जेल की दीवारें नहीं हैं, भगवान् वासुदेव स्वयं खड़े हैं, जेलर, संतरी, न्यायाधीश, जेल में बंद चोर, डाकू, बदमाश, सब अपना-अपना रूप खोकर वासुदेव बन गये। जिस सिद्धि को प्राप्त करने के लिये लोग आजीवन तपस्या करते रहते हैं, श्रीअरविन्द को वह सिद्धि सहज ही मिल गयी। यूं तो राजनैतिक बंदी कारागार को "कृष्णमंदिर" कहा ही करते थे, परंतु श्रीअरविन्द के लिये वह सचमुच कृष्णमंदिर बन गया।

श्रीअरविन्द एक साल तक जेल में रहकर आये तो उन्होंने देखा कि देश की हवा बदल गयी है। अधिकतर नेता जेल में या देश के बाहर थे। जनता में अवसाद और निराशा भरी थी। राष्ट्रीय भावना मरी तो न थी, पर दब अवश्य गयी थी। परंतु फिर भी वह मंदी आंच की तरह फैल रही थी। पहले जहां राष्ट्रीय सम्मेलनों में उत्साह से भरे हजारों की भीड़ हुआ करती थी वहां अब निष्प्राण लोग सैकड़ों की संख्या भी पूरी न कर पाते थे। श्रीअरविन्द ने निश्चय किया कि वे अकेले ही इस स्थिति का सामना करेंगे और जेलों में जा-जाकर भारत मां का संदेश सुनायेंगे। इसी सिलसिले में उन्होंने "उत्तरपाड़ा अभिभाषण" दिया था जो श्रीअरविन्द के जीवन को समझने में मील के पत्थर का काम देता है। इसमें उन्होंने पहली बार सार्वजनिक रूप से अपने आध्यात्मिक अनुभवों की बात कही थी, वासुदेव के दर्शन की बात कही थी। उन्होंने कहा कि अलीपुर जेल में रहते हुए भगवान् ने उनसे कहा :

"मैंने तुम्हें एक काम सौंपा है। तुम्हें इस राष्ट्र को उठाना है, मैं नहीं चाहता कि तुम अधिक समय तक इस चारदीवारी में बंद रहो। तुम शीघ्र ही छूट जाओगे। जाओ और मेरा काम करो।"

दूसरे आदेश में उनसे कहा गया :

"इस एक वर्ष के एकांतवास में तुम्हें बहुत कुछ दिखाया गया है। जिन बातों के बारे में तुम्हें शंका थी उनको तुमने प्रत्यक्ष रूप से देख लिया है! मैं इस देश को अपना संदेश फैलाने के लिये उठा रहा हूं, यह संदेश उस सनातन धर्म का संदेश है जिसे तुम अभीतक नहीं जानते थे, पर अब जान गये हो। तुम बाहर जाओ तो अपने देशवासियों से कहना कि तुम सनातन धर्म के लिये उठ रहे हो, तुम्हें स्वार्थ-सिद्धि के लिये नहीं, अपितु संसार के लिये उठाया जा रहा है। जब कहा जाना है कि भारतवर्ष महान् है तो उसका मतलब है कि सनातन धर्म महान् है। मैंने तुम्हें दिखा दिया है कि मैं सब जगह और सबमें मौजूद हूं। जो देश के लिये लड़ रहे हैं, उन्हींमें नहीं, देश के विरोधियों में भी मैं ही काम कर रहा हूं। जाने या अनजाने, प्रत्यक्ष रूप में सहायक होकर या विरोध करते हुए, सब मेरा ही काम कर रहे हैं। मेरी शक्ति काम कर रही है और वह दिन दूर नहीं जब काम में सफलता प्राप्त होगी।"

इन्हीं दिनों श्रीअरविन्द ने दो साप्ताहिक पत्र प्रकाशित करने शुरू किये—बंगला में 'धर्म' और अंग्रेजी में 'कर्मयोगिन्'। उन्होंने कहा :

"हम केवल सरकार का रूप बदलने के लिये तैयारी नहीं कर रहे हैं, हम एक राष्ट्र को गढ़ना चाहते हैं। राजनीति तो इसका एक छोटा-सा भाग है। हम केवल राजनीति, सामाजिक संगठन, धार्मिक वाद-विवाद, दर्शन, साहित्य या विज्ञान तक ही अपने-आपको सीमित नहीं रखना चाहते। हमारे लिये सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है धर्म और ये सब चीजें और इनके अतिरिक्त और बहुत कुछ हमारे धर्म की परिभाषा में आ जाता है। जीवन के कुछ महान् नियम हैं, मानव विकास का एक सिद्धांत है और अध्यात्म

विद्या का एक भंडार है। ये सब तत्त्व हमारे सनातन धर्म के अंदर आ जाते हैं। इसकी रक्षा करना, इसका प्रसार करना और इसका मूर्तिमंत उदाहरण बनना भारत का कर्तव्य है। विदेशी प्रभाव के कारण भारत अपने धर्म को खो बैठा है। सनातन धर्म सिद्धांतों का, धार्मिक परिपाटियों का एक समूह नहीं है। जबतक उसे जीवन में न उतारा जाये, हमारे दैनिक जीवन की छोटी-से-छोटी और बड़ी-से-बड़ी चीज के अंदर—चाहे वह राजनीति हो या वाणिज्य, साहित्य हो या विज्ञान, वैयक्तिक आचरण हो या राष्ट्रीय कूटनीति—मूर्त्त रूप में न लाया जाये तबतक उसकी सफलता नहीं होती। भारत जीवन के सामने योग का आदर्श रखने के लिये उठ रहा है। वह योग के द्वारा ही सच्ची स्वाधीनता, एकता और महानता प्राप्त करेगा और योग के द्वारा ही उनका रक्षण करेगा।"

श्रीअरविन्द ने कहा :

"भगवान् की इच्छा है कि भारत सचमुच भारत बने, यूरोप की कार्बन कॉपी नहीं। तुम अपने अंदर समस्त शक्ति के स्रोत को खोज निकालो, फिर तुम्हारी समस्त क्षेत्रों में विजय-ही-विजय होगी।"

श्रीअरविन्द इन दिनों यह देखने की कोशिश कर रहे थे कि राष्ट्रीय आंदोलन में किस तरह नयी जान फूंकी जाये। कई प्रकार के प्रस्ताव आये, परंतु उन्होंने देख लिया कि प्रस्तावित आंदोलनों का नेतृत्व करना उनका काम नहीं है। स्वाधीनता का बीज बोया जा चुका था, अब उन्हें उच्चतर और अधिक ठोस काम के लिये अपने-आपको लगाना होगा। परंतु जबतक क्षेत्र बदलने का सीधा आदेश न आया तबतक वे पहले की तरह अपने काम में लगे रहे। एक दिन अचानक अंदर से आदेश आ गया और श्रीअरविन्द अपना सारा काम छोड़कर चंदननगर होते हुए पांडिचेरी आ पहुंचे (४ अप्रैल, १९१०)। यहां से उनके जीवन का एक नया अध्याय शुरू होता है।

३

श्रीअरविन्द की राजनीति

श्रीअरविन्द के पांडिचेरी-निवास के बारे में कुछ कहने से पहले हम उनकी राजनीति पर एक नजर डालते चलें। स्वयं श्रीअरविन्द के शब्दों में उनके राजनीतिक विचारों और कार्यों के तीन पहलू थे। सबसे पहला था वह कार्य जिससे उन्होंने आरंभ किया, अर्थात्, वह गुप्त क्रांतिकारी प्रचार और संगठन जिसका मुख्य उद्देश्य था सशस्त्र विद्रोह की तैयारी। दूसरा था एक सार्वजनिक प्रचार जिसका प्रयोजन था संपूर्ण राष्ट्र को स्वाधीनता के आदर्श की दीक्षा देना। जब वे राजनीतिक क्षेत्र में उतरे तब अधिकतर भारतीय इसे असंभव-सी, पागलों की कल्पना मानते थे। यह समझा जाता था कि ब्रिटिश साम्राज्य अत्यंत शक्तिशाली है और भारत अत्यंत दुर्बल। उसे पूरी तरह निःशस्त्र कर दिया गया है और वह इतना निर्वीर्य हो गया है कि ऐसे प्रयत्नों के सफल होने का स्वप्न भी नहीं देखा जा सकता। तीसरा पहलू था जनता का संगठन जिससे अधिकाधिक बढ़ते हुए असहयोग एवं निष्क्रिय प्रतिरोध के द्वारा विदेशी शासन का संगठित और सार्वजनिक रूप से विरोध करके उसकी जड़ें खोखली कर दी जायें।

उस समय बड़े-बड़े साम्राज्यों के पास भी आज के जैसे भयंकर हथियार न थे। हवाई जहाज तो अभी शुरू ही हो रहा था, तोप-बंदूक ने भी इतना विकराल रूप धारण नहीं किया था। अभीतक अस्त्रों में राइफल ही मुख्य थी और श्रीअरविन्द का ख्याल था कि अगर भली-भांति संगठन कर लिया जाये और कुछ विदेशी सहायता भी प्राप्त कर ली जाये तो काम चल जायेगा। भारतीय सेना को देश-प्रेम का पाठ पढ़ाकर अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध उभारना भी उनके कार्यक्रम का एक अंग था। उन्होंने अंग्रेज-मानस का बहुत अच्छी तरह अध्ययन किया था। उनका कहना था : "अंग्रेज बहुत समय तक पत्थर की मूर्ति बनकर न रह सकेंगे। यदि उन्होंने देखा कि विरोध बढ़ता जा रहा है, तो बजाय इसके कि स्वाधीनता उनके हाथों से

छीन ली जाये, वे यह ज्यादा पसंद करेंगे कि अपने-आप ही स्वाधीनता देकर चले जायें।"

श्रीअरविन्द पूर्ण रूप से राजनीतिक शांतिवादी (पैसिफिस्ट) या अहिंसा-वादी नहीं थे। हां, देश और काल के अनुसार सर्वोत्तम नीति के रूप में उन्होंने निष्क्रिय प्रतिरोध को स्वीकार किया था। श्रीअरविन्द का मत था कि प्रत्येक राष्ट्र को यह अधिकार है कि स्वाधीनता प्राप्त करने के लिये सशस्त्र क्रांति का सहारा ले। हां, समय, परिस्थिति, साधन आदि को देखते हुए नीति में हेर-फेर करना जरूरी है। श्रीअरविन्द यह भी मानते थे कि क्रांति के लिये आवश्यक है कि आर्थिक जूए को उतार फेंका जाये और उद्योग-धंधे और व्यापार में प्रगति की जाये।

वे चाहते थे कि भारतवासी अंग्रेजों का पूरी तरह बहिष्कार करें, किसी भी क्षेत्र में किसी प्रकार का सहयोग न दें, और इस तरह राजकाज को असंभव बना दें। वे ब्रिटिश व्यापार के बहिष्कार, सरकारी संस्थाओं के स्थान पर राष्ट्रीय विद्यालयों की स्थापना, स्वयं-सेवकों का संगठन, भारतीय उद्योग और व्यापार के पुनरुत्थान के पक्ष में थे। हम देखते हैं कि श्रीअरविन्द के बताये हुए इन कार्यक्रमों को बाद में सफलता के साथ उपयोग में लाया गया। परंतु जैसे-जैसे भविष्य के बारे में श्रीअरविन्द की दृष्टि स्पष्ट होती गयी वैसे-वैसे उन्होंने देखा कि इस आंदोलन के लिये देश तैयार नहीं है और वे स्वयं इस काम के लिये नहीं हैं। उन्होंने देखा कि आंतरिक शक्तियों की प्रगति, भारतवासियों के प्रतिरोध और अंतर्राष्ट्रीय घटनाओं के दबाव से ब्रिटेन भारत को स्वतंत्रता देने के लिये विवश हो जायेगा। उसके लिये सशस्त्र क्रांति की आवश्यकता न होगी, और स्वयं उनके लिये कुछ और ही काम चुना गया है।

अपने राजनीतिक कार्य में श्रीअरविन्द ने किसी प्रकार के विद्वेष को स्थान नहीं दिया था। वे अंग्रेजों या इंग्लैंड से घृणा करने के पक्ष में नहीं थे। उन्होंने स्वराज्य की मांग इसलिये नहीं की कि अंग्रेजों का राज्य अत्याचारी या खराब था। वे स्वराज्य केवल इसलिये चाहते थे कि यह प्रत्येक देश का जन्मसिद्ध अधिकार है।

यहां अपनी ओर से कुछ कहने की जगह हम श्रीअरविन्द के ही कुछ वचन उद्धृत करेंगे जिनसे उनके राजनीतिक कार्य तथा ध्येय के बारे में स्पष्ट जानकारी मिल सकेगी। हां, अनुवाद नहीं, केवल भाव दिया जा रहा है। १९०८ में मुंबई में भाषण देते हुए श्रीअरविन्द ने कहा था :

"स्वयं भगवान् ही सब कुछ कर रहे हैं, हम कुछ नहीं कर रहे। जब हमें कष्ट सहने का आदेश होता है तो हम कष्ट सहते हैं ताकि औरों को बल मिले। अगर भगवान् हमें फेंक दें तो इसका अर्थ है कि उस अवसर पर हमारी आवश्यकता नहीं है। अगर परिस्थिति बिगड़ जाये तो हो सकता है कि हमसे न केवल जेल जाने की, बल्कि प्राण-त्याग करने की मांग की जाये। आज जो लोग नेता मालूम होते हैं हो सकता है कि कल उनसे आत्मबलि देने को कहा जाये और तब हम जान लेंगे कि परिस्थिति की मांग यही है। हम खुशी से बलि चढ़ जायेंगे। अपनी बलि देनेवालों के स्थान पर भगवान् और अधिक उपयुक्त लोगों को ले आयेंगे। भगवान् स्वयं कार्य कर रहे हैं और वे ही कार्य हैं। वे अपनी संतान के हृदयों में अमर रूप से विद्यमान हैं। बहुतों के अंदर यह श्रद्धा है। बहुत-से भगवान् के नाम से अपरिचित हैं, वे देश के लिये, जाति के लिये बलि चढ़ रहे हैं। परंतु घूम-फिरकर बात वही है। भगवान् मेरे अंदर, आपके अंदर, सबके अंदर मौजूद हैं। और देश के नाम से काम करते हुए कई लोग सीधे भगवान् के आदेश का पालन कर रहे हैं। जब भगवान् की इच्छा होगी तब वे सब कुछ ठीक कर लेंगे। हमारी हलचल राजनीतिक स्वार्थों के लिये नहीं है। हम धर्म के अनुसार अपना जीवन गढ़ने की कोशिश कर रहे हैं और वह धर्म है भारत के तीस करोड़ लोगों में, स्वयं भारत में भगवान् को पाना। हमारे कार्य में तीसरी चीज है साहस। अगर तुम्हें भगवान् पर भरोसा है, अगर तुम यह मानते हो कि तुम कुछ नहीं कर रहे, तुम्हारे द्वारा भगवान् ही कार्य कर रहे हैं तब भला डर किस बात का ? तुम्हारे अंदर जो शक्ति काम कर रही है वह अमर है, उसे तलवार काट नहीं सकती, आग जला नहीं सकती और पानी डुबा नहीं सकता। वह शक्ति तुम्हारी रक्षा कर रही है। तुमने एक

महान् कार्य को अपनाया है और चारों ओर से उसका विरोध होगा। प्राचीन काल में जब भगवान् अवतार लेते थे तो साथ ही दैत्य भी आया करते थे जो भगवान् का विरोध करते थे। यह रीति सदा से चली आ रही है।

"ऐसा प्रयास करो कि तुम जो कुछ भी करो वह तुम्हारा अपना काम न हो, वह भगवान् का काम हो और वे ही तुम्हारे द्वारा कर रहे हों। तुम्हारे जीवन का एक-एक क्षण उनका हो। सच्चा नेता तुम्हारे अंदर है। तुम्हें दूसरे देशों और राष्ट्रों की तरह प्रगति करने की जरूरत नहीं है, तुम्हें उनकी तरह दूसरों को दबाने और कुचलने की जरूरत नहीं है। तुम्हें उठना है ताकि तुम दुनिया को उठा सको। वह ज्ञान जिसे ऋषियों ने पाया था फिर से आ रहा है, उसे सारे संसार को देना होगा। तुम अपने जीवन को, अपने राष्ट्र के जीवन को भगवान् के कामों के लिये उपयुक्त बनाओ। तब तुम देखोगे कि हमने केवल राष्ट्रीय स्वाधीनता ही नहीं प्राप्त की है, बल्कि सारे संसार के लिये भगवान् द्वारा नियत किये गये काम में भाग भी लिया है।"

इसी लक्ष्य को सामने रखकर श्रीअरविन्द काम करते रहे। परंतु अब भगवान् उनका काम बदलना चाहते थे। श्रीअरविन्द को पुलिस ने पकड़ लिया और लालबाजार की हवालात में डाल दिया। श्रीअरविन्द ने पुकारा : "यह क्या भगवान्! मैं तो तुम्हारा ही काम कर रहा था, फिर यह क्यों?" कुछ दिनों के बाद अंदर से उत्तर मिला। उन्हें बतलाया गया कि सनातन धर्म क्या है। उन्हें बतलाया गया कि अन्यान्य धर्मों की तरह सनातन धर्म भी विश्वासों और क्रियाओं का समूह नहीं है। वह जीवन है—एक उच्चतर जीवन। अगर भारत उठ रहा है तो उस ज्योति को सारे संसार तक पहुंचाने के लिये। भारत अपने लिये नहीं, मानवजाति के लिये है और इसी तरह उसे अपने लिये नहीं, मानवजाति के लिये महान् होना होगा। उसे सनातन धर्म का संदेश घर-घर पहुंचाना होगा।

एक और जगह श्रीअरविन्द कहते हैं : "हमारे स्वराज्य के आदर्श में घृणा के लिये स्थान नहीं है। हमारा आदर्श प्रेम और भ्रातृभाव के आधार पर खड़ा है। वह केवल राष्ट्र के अंदर एकता के स्वप्न नहीं देखता, बल्कि राष्ट्रों से

परे सारी मानवता में ऐक्य चाहता है। हम अपने देश की स्वाधीनता इसलिये चाहते हैं कि इसके द्वारा ही राष्ट्रों में सच्चा भ्रातृभाव आ सकता है। हम देशों और जातियों के पृथक् व्यक्तित्व को मिटाना नहीं चाहते, बल्कि उनके बीच से घृणा, द्वेष और गलतफहमियों की बाधाओं को हटाना चाहते हैं। हम अपने अधिकार के लिये लड़ते हैं, परंतु हमें अधिकारों से वंचित करनेवालों से घृणा नहीं।''

एक उद्धरण और। स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद, आंध्र विश्व-विद्यालय को एक संदेश देते हुए श्रीअरविन्द ने कहा था :

"भारत के सामने बहुत-सी गंभीर समस्याएं हैं। कुछ दिशाएं ऐसी हैं जिनपर चलकर वह अन्य देशों की तरह उद्योग-धंधे, व्यापार आदि में अच्छी प्रगति कर सकता है, एक मजबूत सामाजिक और राजनीतिक तंत्र बना सकता है, प्रचुर सैनिक-बल इकट्ठा कर सकता है, सफल कूटनीति के द्वारा अपने वर्तमान लाभों को सुरक्षित रखकर अधिक फैल सकता है और धरती के एक बड़े भाग पर छा सकता है। परंतु महान् दीखनेवाली इस प्रगति में वह अपने स्वधर्म को, अपनी आत्मा को खो बैठेगा। यदि ऐसा हो जाये तो प्राचीन भारत और उसकी आत्मा बिलकुल गायब हो जायेंगे और जहां इतने देश और राष्ट्र हैं वहां एक और बढ़ जायेगा। परंतु यह न तो भारत के लिये और न संसार के लिये श्रेयस्कर होगा। आज जब कि संसार अधिकाधिक मात्रा में आध्यात्मिक सहायता और रक्षक ज्योति के लिये भारत की ओर ताक रहा है, ऐसी घड़ी में यदि भारत अपने आध्यात्मिक दाय को खो दे तो यह सबसे अधिक दुःखद बात होगी। यह नहीं होना चाहिये और हर्गिज नहीं होगा। लेकिन फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि इस प्रकार का खतरा नहीं है। यही नहीं, इसके अतिरिक्त और बहुत-सी भयंकर विघ्न-बाधाएं भी हैं जो देश की ओर घूर रही हैं। आज या कल देश को उनका सामना करना पड़ेगा। हम सफल तो अवश्य होंगे, पर हमें अपने-आपसे इस बात को न छिपाना चाहिये कि इतने लंबे अर्से की दासता और उसके

अवरोधक और विनाशक प्रभावों के बाद हमें एक महान् आंतरिक तथा बाह्य परिवर्तन की आवश्यकता है। तभी हम भारत के सच्चे उज्ज्वल भविष्य के स्वप्न को चरितार्थ कर सकेंगे।"

४

पांडिचेरी-काल

जैसा कि हम पहले देख आये हैं, श्रीअरविन्द ४ अप्रैल, १९१० को पांडिचेरी में आ पहुंचे। यह आगमन पांडिचेरी के लिये एक नया जीवन लेकर आया। कई पुरातत्त्ववेत्ताओं का कहना है कि अतीत काल में पांडिचेरी का नाम विष्णुपुरी या वेदपुरी रह चुका है। यहां वैदिक अध्ययन के लिये एक वहुत बड़ा विद्यालय था और महर्षि अगस्त्य का आश्रम भी यहीं था। रोमन लोगों के जमाने में भी पांडिचेरी काफी महत्त्वपूर्ण स्थान रहा होगा। यहां से थोड़ी दूर पर पुराने जमाने के रोमन सिक्कों तथा अन्य स्मारकों का एक अच्छा-खासा खजाना मिला है। उसके बाद यह भारत में फ्रेंच राज्य की राजधानी वनी और इसने अंग्रेजों और फ्रेंच लोगों की बहुत-सी लड़ाइयां भी देखीं। लेकिन जिन दिनों की हम बात कर रहे हैं उन दिनों पांडिचेरी में महत्त्वपूर्ण चीज कुछ भी न थी। राष्ट्रीय भावना का नाम तक न था। फ्रेंच राज्य का प्रभाव जोरों पर था और यहां के बहुत-से वासी पांडिचेरी को बृहत्तर फ्रांस का एक भाग तथा अपने-आपको फ्रेंच नागरिक समझते थे। लेकिन एक बात है, फ्रेंच लोग अतिथि का मान करते थे और उसके लिये मुश्किलें सहने के लिये भी तैयार रहते थे। इसलिये उन दिनों अंग्रेजों के आतंक से त्रस्त कई देश-भक्त यहां आकर रहने लगे थे जिनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध थे तमिल भाषा को नया जीवन देनेवाले कवि सुब्रह्मण्यम् भारती।

पांडिचेरी आकर श्रीअरविन्द लगभग एकांत में ध्यानावस्थित ही रहा करते थे। लोगों से मिलना-जुलना बंद-सा था। इन्हीं दिनों में श्रीअरविन्द ने तेईस दिन का उपवास किया। उपवास के समय उनका दैनिक कार्यक्रम ठीक-ठीक चलता रहा, आराम करने अथवा लेटे रहने की कोई आवश्यकता नहीं हुई। इससे पहले अलीपुर जेल में भी वे इसी प्रकार दस दिन का उपवास कर चुके थे। परंतु मजे की बात यह है कि इन उपवासों ने उनके

शरीर को कमजोर नहीं बनाया और उपवास के बाद उन्होंने उपवास के नियमों का पालन न करते हुए अर्थात्, फलों के रस आदि लेने की जगह सीधा-सादा दैनिक भोजन लेना शुरू कर दिया।

मद्रास प्रदेश के एक प्रसिद्ध जमींदार रंगास्वामी आयंगर इसी काल में श्रीअरविन्द से मिलने आये। उनके गुरु नागाई जपता ने अपना शरीर छोड़ने से पहले उनसे कहा था : "उत्तर से एक महान् योगी आयेगा, तुम उसकी शरण में जाना। वह तुम्हारा कल्याण करेगा।" उस योगी के चिह्न-स्वरूप उन्होंने बताया कि वह यहां आने से पहले तीन बातों की घोषणा करेगा। आयंगर का कहना था कि श्रीअरविन्द ने मृणालिनी देवी को जिन तीन पागलपनों की बात लिखी थी वही तीन घोषणाएं थीं। उस पत्र में श्रीअरविन्द ने लिखा था :

"मेरे तीन पागलपन हैं। पहला पागलपन यह है कि मेरा दृढ़ विश्वास है कि भगवान् ने जो गुण, जो प्रतिभा, जो उच्च शिक्षा और विद्या, जो धन दिया है, वह सब भगवान् का है, जो कुछ परिवार के भरण-पोषण में लगता है और जो नितांत आवश्यक है उसीको अपने लिये खर्च करने का अधिकार है, उसके बाद जो कुछ बाकी रह जाता है उसे भगवान् को लौटा देना उचित है। यदि मैं सब अपने लिये, सुख के लिये, विलास के लिये खर्च करूं तो मैं चोर कहलाऊंगा। हिंदू शास्त्र कहते हैं कि जो भगवान् का धन लेकर भगवान् को नहीं लौटाता, वह चोर है। आजतक मैं भगवान् को दो आना दे, चौदह आना अपने सुख में खर्च कर, हिसाब चुकता कर, सांसारिक सुख में मस्त था। जीवन का अर्धांश वृथा ही गया, पशु भी अपना और अपने परिवार का उदर भरकर कृतार्थ होता है।

"मैं इतने दिनों तक पशुवृत्ति और चौर्यवृत्ति करता आ रहा था—यह मैं समझ गया हूं। यह जानकर मुझे बड़ा अनुताप और अपने ऊपर घृणा हो रही है; अब नहीं, वह पाप जन्म-भर के लिये मैंने छोड़ दिया है। भगवान् को देने का अर्थ क्या है ? अर्थ है धर्म-कार्य में व्यय करना। जो रुपया सरोजिनी या उषा को दिया है उसके लिये मुझे कोई अनुताप नहीं,

परोपकार करना धर्म है। आश्रित की रक्षा करना महाधर्म है, किंतु केवल भाई-बहन को देने से ही हिसाब नहीं चुक जाता। इस दुर्दिन में समस्त देश मेरे द्वार पर आश्रित है, मेरे तीस कोटि भाई-बहन इस देश में हैं, उनमें से बहुतेरे अनाहार से मर रहे हैं, अधिकतर कष्ट और दुःख से जर्जरित होकर किसी प्रकार बचे हुए हैं। उनका हित करना होगा।

"क्या कहती हो, इस विषय में मेरी सहधर्मिणी बनोगी ? केवल सामान्य लोगों की तरह खा-पहनकर, ठीक-ठीक जिस चीज की जरूरत है उसे ही खरीदकर और सब भगवान् को दे दूंगा—यही मेरी इच्छा है, अगर तुम सहमत हो, त्याग स्वीकार करो तो मेरी अभिलाषा पूर्ण हो सकती है। तुम कहती हो, मेरी कोई उन्नति नहीं हुई। यह उन्नति का एक पथ दिखा दिया, क्या इस पथ पर चलोगी ?

"दूसरा पागलपन हाल में ही सिर पर सवार हुआ है, वह यह है कि चाहे जैसे भी हो, भगवान् का साक्षात् दर्शन प्राप्त करना ही होगा। आजकल का धर्म है, बात-बात में मुंह से भगवान् का नाम लेना, सबके सामने प्रार्थना करना, लोगों को दिखाना कि मैं कितना धार्मिक हूं। मैं यह नहीं चाहता। ईश्वर यदि हैं तो उनके अस्तित्व को अनुभव करने का, उनका साक्षात् दर्शन प्राप्त करने का कोई-न-कोई पथ होगा, वह पथ चाहे कितना भी दुर्गम क्यों न हो, उस पथ से जाने का मैंने दृढ़ संकल्प कर लिया है। हिंदू धर्म का कहना है कि अपने शरीर के भीतर ही वह पथ है, उसपर चलने के नियम भी दिखा दिये हैं। उन सबका पालन करना मैंने आरंभ कर दिया है, एक महीने के अंदर अनुभव कर सका हूं कि हिंदू धर्म की बात झूठी नहीं है, जिन-जिन चिह्नों की बात कही गयी है मैं उन सबकी उपलब्धि कर रहा हूं। अब मेरी इच्छा है कि तुम्हें भी उस पथ पर ले चलूं, एकदम साथ-साथ नहीं चल सकोगी, क्योंकि तुम्हें इतना ज्ञान नहीं है, किंतु मेरे पीछे-पीछे आने में कोई बाधा नहीं, उस पथ पर चलने से सिद्धि सबको मिल सकती है, किंतु प्रवेश करना अपनी इच्छा पर निर्भर है। कोई तुम्हें पकड़कर नहीं ले जा सकता। यदि तुम्हारा मत हो तो इसके संबंध में और भी लिखूंगा।

"तीसरा पागलपन यह है कि अन्य लोग स्वदेश को एक जड़पदार्थ, कुछ

मैदान, खेत, वन, पर्वत, नदी-भर समझते हैं, मैं स्वदेश को मां मानता हूं, उसकी भक्ति करता हूं, पूजा करता हूं। मां की छाती पर बैठकर यदि कोई राक्षस रक्तपान करने के लिये उद्यत हो तो भला लड़का क्या करता है? निश्चिंत होकर भोजन करने, स्त्री-पुत्र के साथ आमोद-प्रमोद करने के लिये बैठ जाता है या मां का उद्धार करने के लिये दौड़ पड़ता है? मैं जानता हूं कि इस पतित जाति का उद्धार करने का बल मेरे अंदर है, शारीरिक बल नहीं, तलवार या बंदूक लेकर मैं युद्ध करने नहीं जा रहा हूं, वरन् ज्ञान का बल है। क्षात्रतेज एकमात्र तेज नहीं है, ब्रह्मतेज भी एक तेज है, वह तेज ज्ञान के ऊपर प्रतिष्ठित होता है। यह भाव नया नहीं है, आजकल का नहीं है, इस भाव को लेकर ही मैंने जन्म ग्रहण किया है। यह भाव मेरी नस-नस में भरा है, भगवान् ने इस महाव्रत को पूरा करने के लिये मुझे पृथ्वी पर भेजा है। चौदह वर्ष की उम्र में इसका बीज अंकुरित होने लगा था, अठारह वर्ष की उम्र में इसकी प्रतिष्ठा दृढ़ और अचल हो गयी थी। तुमने न-मौसी (चौथी मौसी) की बात सुनकर यह सोचा था कि न मालूम कहां का बदजात मेरे सरल भलेमानस स्वामी को कुपथ में खींचे ले जा रहा है। परंतु तुम्हारा भलामानस स्वामी ही उस आदमी को तथा और सैकड़ों आदमियों को उस पथ में, कुपथ हो या सुपथ, खींच ले आया था तथा और भी हजारों आदमियों को खींच ले आयेगा। कार्यसिद्धि मेरे रहते ही होगी यह मैं नहीं कहता, पर होगी अवश्य।"

२९ मार्च, १९१४ का दिन आश्रम के लिये, या यूं कहें कि श्रीअरविन्द के अनुयायियों के लिये बहुत महत्त्वपूर्ण माना जाता है। उस दिन माताजी पहले-पहल श्रीअरविन्द से मिली थीं। इस प्रथम मिलन के बाद ही उन्होंने लिखा :

"कोई चिंता की बात नहीं है, यदि सैकड़ों मनुष्य घने अंधकार में डूबे हुए हैं। वे जिन्हें हमने कल देखा था—वे तो पृथ्वी पर ही हैं। उनकी उपस्थिति इस बात का प्रमाण है कि एक दिन आयेगा जब अंधकार प्रकाश

में बदल जायेगा, जब तेरा राज्य पृथ्वी पर कार्य-रूप में स्थापित हो जायेगा।"

और यह घोषणा करनेवाली माताजी कौन हैं, यह श्रीअरविन्द के शब्दों में सुनिये :

"माताजी अतिमानस को नीचे लाने के लिये ही आती हैं और उसका पूर्ण रूप से अवतरण होने पर ही उनकी पूर्ण अभिव्यक्ति संभव है। उनका मूर्तिमान होना पृथ्वी की चेतना के लिये अपने अंदर अतिमानस को ग्रहण करने तथा उसे संभव बनाने के लिये जो रूपांतर जरूरी है उसे प्राप्त करने का सुयोग है।"

१९२० में लोकमान्य तिलक की प्रेरणा से जोजेफ बेपटिस्टा ने श्रीअरविन्द को एक पत्र लिखा जिसमें उनसे अनुरोध किया गया था कि वे राष्ट्रवादी दल के मुखपत्र का संपादन स्वीकार कर लें। तिलक को आशा थी कि इस तरह वे श्रीअरविन्द को राजनीति में वापिस ला सकेंगे, परंतु श्रीअरविन्द ने उसे स्वीकार न किया। उनके पत्र का कुछ अंश यहां दिया जा रहा है।

"...मेरे हाथ में इतने काम हैं कि मैं श्रीमान् सम्राट् के होटल का मेहमान बनकर अपना समय बर्बाद नहीं करना चाहता। परंतु यदि मुझे पूरी स्वतंत्रता होती तो भी शायद मैं न लौटता। मैं यहां एक स्पष्ट उद्देश्य से आया हूं...। पांडिचेरी मेरे एकांतवास का आश्रय-स्थल है, यह मेरी तपस्या की गुफा है। हां, यह सामान्यतः वैराग्यपूर्ण त्याग की न होकर सर्वथा मेरे अपने ढंग की एक निराली तपस्या है। बाहर आने से पहले मुझे आंतरिक दृष्टि से अपनी साधना में अपने-आपको परिपूर्ण बना लेना चाहिये।

"मैं राजनीति को निकृष्ट नहीं मानता, यह नहीं मानता कि मैं राज-

नीतिज्ञों की अपेक्षा बहुत ऊंची स्थिति में हूं। मैंने आध्यात्मिक जीवन पर हमेशा से बल दिया है और अब मैं उसको और अच्छे ढंग से कर रहा हूं, पर आध्यात्मिकता से मेरा अभिप्राय संन्यास या संसार-परित्याग नहीं है। इस जगत् और इसके पदार्थों के प्रति मैं घृणा या अरुचि नहीं रखता। यहां कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है जो कम या अधिक परिमाण में आध्यात्मिक न हो। एक संपूर्ण आध्यात्मिक जीवन में हर वस्तु के लिये अवकाश होता है।... मेरा विश्वास है कि देश अब आजादी के रास्ते पर है और उसे प्राप्त कर लेगा, परंतु आजादी के बाद यह क्या रूप धारण करेगा यह बड़ा ही महत्त्वपूर्ण प्रश्न है।

"मेरा विश्वास है कि भारत की अपनी आत्मा और अपना बुद्धि-वैभव है। मैं सामान्यतः किसी प्रकार के सामाजिक जनतंत्र में विश्वास करता हूं, परंतु वह जनतंत्र भारत की परंपरा के अनुकूल होना चाहिये।"

इसके बाद दो बार उनसे कांग्रेस के सभापति-पद को स्वीकार कर लेने के लिये आग्रह किया गया। लाला लाजपतराय, देवदास गांधी, देशबंधु चित्तरंजन दास, पुरुषोत्तमदास टंडन आदि इस निमित्त पांडिचेरी आये, पर श्रीअरविन्द ने राजनीति में भाग न लेने का अपना निश्चय नहीं बदला। इसी प्रसंग में उन्होंने देशबंधु दास से कहा था :

"मैं एक महती शक्ति की खोज में हूं। यदि वह शक्ति मिल गयी तो उसीको आधार बनाकर अपना कार्य अपने ढंग से करूंगा।"

श्रीअरविन्द को विश्वास था कि भारत का त्राण आध्यात्मिक शक्ति के द्वारा ही हो सकता है और वे अपने पूरे बल के साथ उसे धरती पर लाने के काम में लग गये।

१९१४ में जब माताजी पहली बार पांडिचेरी आयी थीं तो उनके साथ मिलकर श्रीअरविन्द ने 'आर्य' नामक एक अंग्रेजी मासिक का प्रकाशन शुरू किया। बाद में पुस्तकाकार छपनेवाले श्रीअरविन्द के अधिकतर महान् ग्रंथ

इसी पत्रिका में धारावाहिक लेखों के रूप में प्रकट हुए थे। उसी जमाने के लिखे हुए लेख अगर आज पढ़े जायें तो ऐसा प्रतीत होता है मानों संसार की आज की परिस्थिति को देखकर अभी-अभी लिखे गये हैं। इन लेखों में उच्चतम आध्यात्मिक दृष्टि है। वेदों की एक नयी दृष्टि से व्याख्या है, काव्य-शास्त्र और अंग्रेजी साहित्य पर क्रांतिकारी विचार हैं, भारत की सभ्यता और संस्कृति, उसके साहित्य, उसकी कला, उसके धर्म और उसकी राजनीति के बारे में आध्यात्मिक दृष्टि से एकदम नयी बातें बतायी गयी हैं। मानव-समाज की गुत्थियों को सुलझाकर भविष्य का एक ढांचा दिया गया है। जितनी गंभीर और विपुल सामग्री श्रीअरविन्द एक महीने में तैयार करके देते थे उसे आत्मसात् करने के लिये एक लंबे अरसे की जरूरत होती है।

प्रथम महायुद्ध के समय माताजी को कुछ वर्षों के लिये वापिस जाना पड़ा। उसके बाद वे २४ अप्रैल, १९२० को दूसरी बार और इस बार स्थायी रूप से लौट आयीं। अब श्रीअरविन्द के काम में और भी तेजी आ गयी और उनके लिये 'आर्य' के लिये लेख लिखने का समय निकालना कठिन हो गया। परिणामस्वरूप, नियमित रूप से लगभग साढ़े छः वर्ष निकलने के बाद 'आर्य' बंद हो गया। यहां यह जान लेना मजेदार होगा कि श्रीअरविन्द इन लेखों को लिखते कैसे थे—सीधे मशीन पर टंकित करते जाते थे!

२४ नवंबर, १९२६ को श्रीअरविन्द ने सिद्धि प्राप्त की। इस सिद्धि के बारे में उन्होंने एक जगह लिखा है :

"२४ नवंबर, १९२६ को श्रीकृष्ण का पृथ्वी पर अवतरण हुआ था। श्रीकृष्ण अतिमानसिक प्रकाश नहीं हैं। श्रीकृष्ण के अवतरण का अर्थ है अधिमानसिक देव का अवतरण जो जगत् को अतिमानस और आनंद के लिये तैयार करता है। कृष्ण आनंदमय हैं। वे अतिमानस को अपने आनंद की ओर उद्‌बुद्ध करके विकास का समर्थन और संचालन करते हैं।"

इसके बाद श्रीअरविन्द एक प्रकार से पर्दे के पीछे चले गये और आश्रम का संचालन पूरी तरह माताजी के हाथ में आ गया। इस काल के बारे में

हमें कुछ भी नहीं मालूम। इन दिनों उन्होंने सबके साथ मिलना-जुलना छोड़ दिया था और वर्ष में केवल तीन बार विशेष अनुमति पाये हुए लोगों को दर्शन दिया करते थे। फिर भी अंग्रेज सरकार को इनपर संदेह बना रहता था। उसे भय था कि शायद अपनी "तपस्या की गुफा" में बैठकर श्रीअरविन्द किसी गुप्त सशस्त्र क्रांति का सूत्र-संचालन कर रहे हैं। श्रीअरविन्द के संपर्क में आनेवालों पर बड़ी कड़ी निगाह रखी जाती थी।

आश्रम के चारों नुक्कड़ों पर चौबीसों घंटे गुप्तचर-विभाग के आदमी चक्कर लगाते रहते थे। और यहां जो आता था उसके पीछे लग जाते थे। सर अकबर हैदरी की सलाह पर चक्रवर्ती राजगोपालाचारी ने मद्रास के मुख्यमंत्री बनने के बाद इस पहरे को उठवा दिया।

१९३८ में नवंबर दर्शन से ठीक पहले श्रीअरविन्द के पैर की हड्डी टूट गयी जिसके कारण दर्शन स्थगित कर दिया गया। दूसरा विश्व-युद्ध आरंभ होने पर श्रीअरविन्द ने खुले आम हिटलर का विरोध करते हुए मित्र-राष्ट्रों का पक्ष लिया और अपनी सहायता के प्रतीक-स्वरूप उन्हें कुछ आर्थिक सहायता भी दी। जिसके भय से अंग्रेज सरकार रातों को चौंक पड़ती थी उसीसे युद्ध के समय सहायता पाकर वह स्तंभित-सी रह गयी। फिर लंदन से बी० बी० सी० पर उनकी सहायता के बहुत गीत गाये गये।

इसके बाद जब १९४२ में सर स्टेफर्ड क्रिप्स भारत आये तो श्रीअरविन्द ने उनकी योजना की सराहना की और देश से अपील की कि उसे स्वीकार कर ले। श्रीअरविन्द का कहना था कि अगर आपसी वैमनस्य छोड़कर उसपर अच्छी तरह से अमल किया जाये तो भारत में एकता और पूर्ण स्वाधीनता का विकास होगा। उस समय देश ने श्रीअरविन्द की सलाह को स्वीकार नहीं किया, परंतु बाद में कांग्रेस के कई बड़े-बड़े नेताओं ने स्वीकार किया कि यह उनकी भूल थी। अगर क्रिप्स-योजना स्वीकार कर ली गयी होती तो न पाकिस्तान बनता और न उसके बाद आनेवाली विपदाएं ही आ पातीं। परंतु विधाता को अभी और अग्नि-परीक्षाएं लेनी थीं।

इसके बाद १५ अगस्त, १९४७ को श्रीअरविन्द ने वह ऐतिहासिक वक्तव्य दिया जिसे हम पहले देख आये हैं।

गांधीजी की मृत्यु पर जब सारे देश में कुहराम मच गया तो तिरु-चिरापल्ली रेडियो ने श्रीअरविन्द का एक संदेश प्रसारित किया। उसमें उन्होंने फिर से इस बात पर बल दिया था कि इस देश के भाग्य में लिखा है कि यह एक हो और महान् हो। उन्होंने कहा था कि भारत मां अपने बच्चों को अपने चारों ओर इकट्ठा करके एक महान् राष्ट्रीय शक्ति और संगठित प्रजा के रूप में गढ़ेगी।

कोरिया की लड़ाई के समय श्रीअरविन्द ने फिर से एक बार राजनीतिक नेताओं को चेतावनी दी जिसमें चीन के भारत पर आक्रमण करने की संभावना दिखायी गयी थी। परंतु दुर्भाग्यवश, देश ने क्रिप्स-योजना-संबंधी सलाह की तरह, इसकी भी अवहेलना की और परिणाम हमारी आंखों के सामने है।

श्रीअरविन्द ने ५ दिसंबर, १९५० को शरीर त्याग दिया। वह अपने-आपमें एक अलग अध्याय है।

५

शरीर-त्याग*

श्रीअरविन्द ने ५ दिसंबर, १९५० को १ बजकर २६ मिनट पर रात्रि में महासमाधि ले ली। श्रीमाताजी ने ७ दिसंबर को एक संदेश में बतलाया कि जबतक श्रीअरविन्द का कार्य पूरा न होगा तबतक वे पृथ्वी को छोड़ेंगे नहीं। पूरे १११ घंटे तक श्रीअरविन्द के शरीर में दिव्य ज्योति की प्रभा बनी रही। मालूम होता था कि मर्त्य में अमरत्व उतर आया है, शरीर कांचन की तरह अपनी सहज आभा बनाये हुए था, उसमें किसी प्रकार का विकार हुआ ही नहीं था। माताजी ने १४ दिसंबर को जो संदेश दिया उसमें कहा :

"श्रीअरविन्द के लिये दुःखी होना श्रीअरविन्द का अपमान करना है। श्रीअरविन्द हम लोगों के साथ हैं—पहले की तरह सजीव और सचेतन, वे हम लोगों को छोड़कर जा नहीं सकेंगे। हम उनकी उपस्थिति को पहले की तरह, पहले से भी अधिक जाग्रत् और जाज्वल्यमान अनुभव करते हैं। वे सदा हमारे साथ हैं, जो कुछ हम कर रहे हैं, सोच रहे हैं, अनुभव कर रहे हैं, सबके द्रष्टा के रूप में।"

वस्तुतः, किसी भी योगी की मृत्यु—जिसे हम सामान्यतया "मृत्यु" कहते हैं—होती ही नहीं। उसकी चेतना भौतिक शरीर की मर्यादा से अधिक होती है और जब वह सशरीर होता है तब भी वह इस दैहिक आवरण से बहुत ऊपर और महान् होता है। वह मनुष्यजाति के लिये जो कार्य करता है वह भी मूलतः उसकी स्वतंत्र और विशाल आत्मा का कार्य होता है—उस आत्मा का जो सनातन भगवान् की असीम एकता में पूर्णतया सजग रूप में

* यह अध्याय स्व० श्री भुवनेश्वर नाथ मिश्र 'माधव' की पुस्तक 'श्रीअरविन्द चरितामृत' से लिया गया है।

अमरत्व का भोग करती है और जिसके लिये वास्तव में जीवन और मृत्यु, दोनों स्वांगमात्र हैं। श्रीअरविन्द जैसे योगीश्वर के संबंध में तो "मृत्यु" शब्द का प्रयोग बिलकुल ही असंगत है, क्योंकि यह सब जानते हैं कि अतिमानस की रूपांतरकारी शक्ति उनके शरीर के प्रत्येक अणु में कार्य कर रही थी और उसका प्रभाव केवल आध्यात्मिक ही नहीं, भौतिक भी था। श्रीअरविन्द के बारे में यह कभी नहीं कहा जा सकता कि उनको वृद्धावस्था या किन्हीं भौतिक कारणों से शरीर छोड़ना पड़ा।

यह सचमुच आध्यात्मिक विश्व के लिये महान् घटना है कि जब संसार में श्रीअरविन्द के संबंध में जानने की उत्सुकता अधिकाधिक बढ़ रही थी और उनकी योग-साधना की ओर संसार के साधक मुड़ रहे थे, प्रवृत्त हो रहे थे तो श्रीअरविन्द ने एकाएक समाधि ले ली। पर श्रीअरविन्द सदा से ऐसी लीला करते आये थे। उनके लिये यह कोई नयी बात नहीं थी। आई० सी० एस० को त्यागकर बड़ौदा की नौकरी की, और जब बड़ौदे में उनकी ख्याति विस्तार और ऊंचाई पर थी, उन्होंने उसे ठुकराकर बंगाल में राजनीतिक फकीर का जीवन बिताना अधिक पसंद किया और वहां जेल में उन्हें भगवत्साक्षात्कार हुआ, और फिर वे अखिल भारतीय नेता बन गये। फिर एक रात को सहसा वे गंगा पार कर चंदननगर और फिर वहां से पांडिचेरी पहुंचते हैं और अज्ञात जीवन बिताने लगते हैं। यहां से उनकी आध्यात्मिक ज्योति विकीर्ण होकर सारे संसार पर छा ही जाना चाहती है कि वे सदा के लिये समाधि ले लेते हैं। कीर्ति, श्री, सदा हाथ जोड़े उनके पीछे-पीछे चलती रहीं, परंतु उन्होंने पीछे मुड़कर कभी उनकी ओर निहारा तक नहीं। यह तो सच है कि इस महान् त्याग का वरण वे सदा हमारे लिये करते रहे और उनकी महासमाधि भी मानवता के महान् कल्याण के लिये ही है। अपनी महान् और चिर-अमर कृति 'सावित्री' में वे सांकेतिक रूप में इस घटना का वर्णन करते हैं :

"मृत्यु संग एकाकी निकट विनाश छोर के,
अप्रतिम महिमा उसकी अंतिम रौद्र दशा में,

करना होगा पार उसे ही निपट अकेले
काल-परिधि में भीषण जोखिम-भरे सेतु को,
और पहुंचना शीर्ष-बिंदु पर जगत्-नियति के,
जहां मनुज हित सब जीता या हारा जाये।
उस नीरव भीषणता में खोई एकाकी,
निर्णयकारी घड़ी जहां पर जगत्-नियति में,
आत्मा का अतिक्रमण पार मानवी समय के,
जब वह खड़ी अकेले होती मृत्यु सामने,
या जब वह है प्रभु के सम्मुख खड़ी अकेले
पृथक् अतीव हताश छोर पर नीरवता के,
एकाकी निज आत्मा मृत्यु-भाग्य के संग में,
जैसे काल मध्य वह और अकाल मध्य में,
किसी प्रांत-सीमा के क्षेत्र तीर पर है वह,
जब सत्ता हो बाध्य अंत को या फिर जीवन
पुनः करे निर्माण जिंदगी की आकृति को,
एकाकी वह बने विजयिनी या पराजिता।
उस बेला में पहुंच न पाये मदद मानवी,
कुंडल कवच, किरीट-युक्त देवता प्रभामय
नहीं खड़े हो सकते उसका पक्ष ग्रहण कर,
देव लोक के हेतु लगाओ नहीं पुकारें,
क्योंकि अकेली वह कर सकती है निज रक्षा।
इसी हेतु उतरी है शांत शक्ति अभिप्रेरित;
उसमें है चेतन संकल्प धरे मानव तन
केवल वही बचा सकती है निज को, जग को।"

यह स्पष्ट ही माताजी की ओर संकेत है और इस संकेत को हम सभी पूरी तरह, अच्छी तरह समझ रहे हैं।

नवंबर १९५० का "सिद्धि दिवस" का दर्शन श्रीअरविन्द का अंतिम

दर्शन था। श्रीअरविन्द और माताजी सिंहासन पर विराजमान थे। हजारों दर्शनार्थी माल्यपुष्पसहित शांतिपूर्वक पंक्ति बांधे दर्शनों के लिये आते जा रहे थे। सारा कार्यक्रम बड़े आनंद के साथ संपन्न हुआ। पहली और दूसरी दिसंबर को 'श्रीअरविन्द अंतर्राष्ट्रीय शिक्षा-केंद्र' का वार्षिकोत्सव था। खूब धूम-धाम और चहल-पहल रही। पर कौन जानता था कि ठीक इसके बाद ही एक महान् दुःखांत अभिनय होनेवाला है? श्रीअरविन्द को इस उत्सव की आनंद-समाप्ति का जब समाचार मिला तो वे बहुत प्रसन्न हुए और पूछा : "अच्छा, समाप्त हो गया?"

श्वास रुक जाने और हृदय की गति बंद हो जाने के केवल आधा घंटा पहले श्रीअरविन्द ने अपने शांत करुणामय नेत्र खोले, पासवाले डॉक्टर का नाम पुकारा और पानी पिया। चिकित्सा-संबंधी इतिहास में मूत्र-विष-संचार की यह सबसे अनोखी मूर्च्छा थी। ५ दिसंबर को श्रीअरविन्द ने महासमाधि ले ली, पर लगभग चार दिन तक उनका दिव्य शरीर ज्योतिर्मय पुंज से आलोकित यथापूर्व सुंदर और स्वर्णवर्णिम बना रहा। माताजी ने एक घोषणा के साथ समाधि-क्रिया को अनिश्चित काल के लिये स्थगित कर दिया। वह प्रसिद्ध घोषणा यह है :

"श्रीअरविन्द को आज समाधि नहीं दी जा रही। उनका शरीर अतिमानस प्रकाश के घनीभूत पुंज से इतना परिपूर्ण है कि उसमें विकार के चिह्न कहीं भी दिखायी नहीं दे रहे। जबतक शरीर ठीक अवस्था में रहेगा तबतक वह इसी तरह शय्या पर लेटी अवस्था में रहेगा।"

और वह कई दिन तक अतुल महिमामयी शांति में वैसा ही अक्षुण्ण रहा। सहस्रों लोगों ने उनके दर्शन किये। अंत में ९ दिसंबर की शाम के ५ बजे उनकी देह शीशम की लकड़ी के बक्से में रख दी गयी। इसमें चांदी की पर्त तथा रेशमी कपड़े का अस्तर लगा हुआ था, फिर बक्से को अत्यधिक सादगी के साथ किसी मत के धार्मिक कर्मकांड के बिना, प्रागंण के बीचोंबीच विशेष रूप से तैयार किये गये समाधिस्थल में उतार दिया गया।

श्रीअरविन्द के महाप्रयाण की यह सारी घटना एक महत्त्वपूर्ण और विचारपूर्वक किये गये संघर्ष की पराकाष्ठा थी। श्रीअरविन्द को पहले से इसका आभास मिल गया था। पिछले दो वर्षों से वे भविष्य की योजनाओं के बारे में कुछ मौन-से हो चले थे। उसी नवंबर में उनको एक गुजराती ज्योतिषी की भविष्यवाणी पढ़कर सुनायी गयी थी। इस ज्योतिषी ने लिखा था : "१९५० में सूर्य और चंद्रमा का योग है और चंद्रमा बारहवें ग्रह का अधिपति है, इसलिये संभव है कि इस वर्ष श्रीअरविन्द अपने-आप इस शरीर को छोड़ दें।" १९६४ के बारे में भी वैसी कुछ भविष्यवाणी उसने की थी जब श्रीअरविन्द तिरानवे वर्ष पूरे कर चुके होते। यह सुनकर श्रीअरविन्द ने हाथ ऊपर उठाकर कुछ हंसी में कहा : "ओह, तिरानवे वर्ष !" श्रीअरविन्द ने इन भविष्योक्तियों को मनगढ़ंत न मानकर कहा : "इस व्यक्ति को सत्य का कुछ ज्ञान अवश्य है।" तब किसीने प्रश्न किया : "इस वर्ष शरीर छोड़ देने की वाणी में तो कोई सार नहीं है, है न ? निश्चय ही ऐसा करने का तो आपका विचार नहीं है ?"

अपने धीर-गंभीर भाव में उन्होंने प्रत्युत्तर में केवल एक ही रहस्यमय शब्द कहा : "क्यों ?"

यह शब्द सबको आश्चर्य में डाल देनेवाला था, क्योंकि वे यही आशा करते थे कि अतिमानस के अधिकाधिक अवतरण के फलस्वरूप श्रीअरविन्द के जीवन का असाधारण रूप से लंबा हो जाना उनके कार्यक्रम का ही एक भाग है। इस बीच एक आश्चर्यजनक घटना यह हुई कि जो लोग उनकी सेवा में रहते थे, उनके कमरे में काम करते थे उनके प्रति वे सहसा अत्यधिक वात्सल्यमय हो उठे। वे उनको जता देना चाहते थे कि उन सबकी सेवाओं का उनकी दृष्टि में बड़ा मान है। उनका यह प्रेम-प्रदर्शन अत्यंत मधुर और आनंददायक होते हुए भी उसमें आसन्न विदाई की तीखी गंभीरता अस्पष्ट रूप से दिखायी पड़ती थी, यद्यपि उस समय इस रहस्य को कोई न पकड़ पाया।

एक तीसरी आश्चर्यजनक घटना भी यहां दी जा सकती है। एक बार एक साधक को श्रीअरविन्द के मुख से एक बड़ी अजीब-सी बात सुनायी

पड़ी : इस साधक का कार्य था कि जो कुछ श्रीअरविन्द पत्र या पुस्तक-रूप में लिखवायें उसे लिपिबद्ध कर ले। वे पिछले कई वर्षों से 'सावित्री' लिखवाने में संलग्न थे। असीम महिमामय पर सहज था 'सावित्री' विषयक उनका परिश्रम। इस महाकाव्य के निर्माण में दिव्य दृष्टि और अनुभव के साथ-साथ इसी कोटि का धैर्य भी उनमें विद्यमान था। यहांतक कि पिछले दिनों वे इसकी ग्यारहवीं या बारहवीं आवृत्ति में लगे हुए थे। पर एकाएक इस महान् प्रयाण के कोई दो महीने पहले उन्होंने अपने लेखक को यह कहकर चौंका दिया : " 'सावित्री' का काम अब मुझे शीघ्र समाप्त कर देना चाहिये।"

यहां एक और बात का भी उल्लेख किया जा सकता है। श्रीअरविन्द की बीमारी के दिनों में एक युवक हर रोज सवेरे माताजी से श्रीअरविन्द का हाल पूछा करता था। ३ दिसंबर को माताजी ने कहा : "आई हैव गिवन अप।"—(मैंने छोड़ दिया है।) स्वभावतः वह इसका अर्थ न समझ पाया, लेकिन आगे पूछने की हिम्मत न हुई। पांच तारीख को उसका अर्थ सामने आ गया। एक दिन बातों-ही-बातों में माताजी ने उससे कहा भी : "मैंने तुमसे कहा था।"

श्रीअरविन्द के योग और दर्शन का सार है वह गतिशील चेतना जिसे "अतिमानसिक" (सुप्रामेण्टल) कहते हैं। श्रीअरविन्द का लक्ष्य यह था कि अतिमानस को अवतरित कराकर एक नयी मानवता की सृष्टि की जाये जो उच्च आत्मपूर्णता का आनंद ले और प्रत्येक क्षेत्र में दिव्य जीवन-यापन करे। इसी लक्ष्य को लेकर उन्होंने अपने-आपको तथा माताजी को अतिमानसिक स्थिति तक उठाकर नयी मानवजाति के लिये प्रारंभिक केंद्र तैयार करने का प्रयत्न किया। रोगों से मुक्ति, इच्छित आयु, शरीर के व्यापारों में परिवर्तन—सब अतिमानसिक अवस्था के अंतिम फल हैं। निश्चय ही इन सबका काम मनुष्य के अंदर की दिव्य प्रकृति को मूर्त रूप देना है। यह फल ही पृथ्वी पर अतिमानसिक जीवन को पूर्णतः सुरक्षित बना सकता है। इसकी प्राप्ति के लिये योगी को अंत में निश्चेतना की दृढ़ चट्टान से निबटना पड़ता है, क्योंकि यह निश्चेतना ही प्रच्छन्न भगवान् का अंधकारमय आधार है और यहीं से विकास का स्वरूप प्रारंभ होता दीखता है।

श्रीअरविन्द और माताजी मनुष्यजाति के रूप में मानव चरित्र की युग-युग की कठिनाइयां अपने ऊपर लेकर पिछले कई वर्षों से निश्चेतन की इस चट्टान के साथ जूझ रहे हैं। १९३५ में, एक पत्र में श्रीअरविन्द लिखते हैं :

"मैं अपने निज के लिये कुछ भी नहीं कर रहा, क्योंकि मुझे अपने लिये न मोक्ष की आवश्यकता है, न अतिमानसिक सिद्धि की। यहां मैं इस सिद्धि के लिये जो यत्न कर रहा हूं वह केवल इसलिये कि पार्थिव चेतना में इस काम का होना आवश्यक है और यदि यह पहले मेरे अंदर न हुआ तो औरों में भी न हो सकेगा।"

उनका समस्त अतिमानव-योग सचमुच ही एक महान् सेनापति का युद्ध था—युद्ध उन शक्तियों के विरुद्ध जिनके साथ अबतक किसी आत्मवेत्ता ने युद्ध नहीं किया था। १९३५ के एक और पत्र से उनके विचार इस संबंध में और स्पष्ट हो जाते हैं :

"मैं व्यक्तिगत महानता प्राप्त करने के लिये अतिमानस को नीचे उतारने की कोशिश नहीं कर रहा। मैं मानवीय अर्थों में महानता या क्षुद्रता, किसीको महत्त्व नहीं देता। यदि मनुष्य की बुद्धि मुझे इसलिये मूर्ख समझती है कि जो कार्य श्रीकृष्ण ने नहीं किया उसे मैं करने का प्रयत्न कर रहा हूं तो इसकी मुझे परवाह नहीं। अतिमानस का अवतरित होना भगवान् की इच्छा है या नहीं, मैं इस अवतरण का मार्ग खोल देने या कम-से-कम इसको अधिक संभव कर देने के लिये भेजा गया हूं या नहीं—ये प्रश्न भगवान् के और मेरे बीच हैं। चाहे लोग मेरी हंसी उड़ायें, मेरी धृष्टता के लिये समस्त विपत्तियों का पहाड़ भी मेरे ऊपर टूट पड़े तो भी मैं आगे बढ़ता ही जाऊंगा, या तो मेरी विजय होगी या मेरी मृत्यु। इसी भावना से मैं अतिमानस की खोज में निकल पड़ा हूं, अपने लिये या औरों के लिये किसी प्रकार की महानता प्राप्त करने की अभिलाषा से नहीं।"

यह है आत्म-त्याग का ज्वलंत साहस, एक योद्धा योगी का सजीव चित्र

जो अपने लक्ष्य के निकट पहुंचने के लिये सब प्रकार के कष्ट सहने को तैयार है। उनका मूल मंत्र यह अवश्य है : "विजय या मृत्यु" पर उनकी मनःस्थिति ऐसी ही है कि वह इससे भी अधिक साहसी मंत्र का प्रयोग कर सकती है : "विजय के लिये मृत्यु।"

एक कुशल योद्धा की भांति ही श्रीअरविन्द ने अपना अभूतपूर्व बलिदान करने का निश्चय किया। इसके सिवाय उनके महाप्रयाण का कोई अर्थ ही नहीं हो सकता। उनके सामने दो प्रश्न थे—अतिमानस को न उतार पहले भौतिक चेतना को तैयार करना अथवा अतिमानस को उतारकर भौतिक चेतना को शीघ्र तैयार करना और इस तरह रूपांतर के कार्य को सुकर बनाना। इसी अंतिम उद्देश्य से उन्होंने अपना बलिदान कर दिया। और यहां भौतिक चेतना के प्रतिनिधि के रूप में माताजी को रूपांतर का कार्य सिद्ध करने के लिये छोड़ गये। इस कार्य के हो जाने पर माताजी के द्वारा इस पृथ्वी पर मनुष्यजाति के लिये एक दिव्य जीवन की नींव पड़ जायेगी जो समय आने पर फूले-फलेगा। १९३४ के एक पत्र में वे लिखते हैं :

"जो भार मेरे ऊपर है उसे केवल भगवत्प्रेम ही सह सकता है। और जिन्होंने भी अपना सर्वस्व त्याग कर पृथ्वी को अंधकार में से निकालकर भगवान् की ओर ले जाने का एकमात्र लक्ष्य बना लिया है उन सबको यह भार उठाना ही पड़ता है।"

५ दिसंबर की सवेरे से १११ घंटे तक वे अपने कमरे की एक सादी शय्या पर लेटे रहे—उस कमरे में, जहां उन्होंने अपने जीवन के बीस वर्ष से अधिक आध्यात्मिक प्रयोग में बिताये थे। आध्यात्मिक रूप में "भव्य और श्रीयुक्त"—केवल ये ही शब्द उनके शरीर की उस समय की छवि का वर्णन करने में समर्थ हैं—श्वेत दाढ़ी और चौड़े ललाट पर लहराते हुए श्वेत केशों से भरा चेहरा, बंद शांत आंखें, चौड़े रंध्रोंवाली उन्नत नासिका, दृढ़ होंठ जिनके कोनों पर परमानंद की छाया थी, चौड़े-चिकने स्कंध, विशाल वक्ष पर मोड़कर रखी गयी बाहें, एक के ऊपर एक रखे हुए मृदुल, कलामय पर

समर्थ हाथ, एक बड़ी जरी के किनारे की रेशमी चादर से ढका हुआ, पौरुषपूर्ण पुष्ट शरीर का निचला हिस्सा, राजसी ढंग से फैले हुए चरण जो यह याद दिला रहे थे कि उन्होंने अपने पवित्र चरणों के स्पर्श से उन्नासी वर्षों तक इस पृथ्वी को धन्य तथा सनाथ किया है। कमरे का वातावरण मनुष्य को पवित्र और उज्ज्वल बना देनेवाली शक्ति से ओत-प्रोत था। आज श्रीअरविन्द अपने अनुयायियों के साथ एकाएक नवीन रूप में घनिष्ठ-से हो उठे और उन्होंने प्रत्यक्ष रूप में उनको अपनी विशाल सत्ता में समेट लिया।

यह असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि श्रीअरविन्द, जो हमारा पथ-प्रदर्शन करते थे, जिनसे हम प्रेम करते थे, अब भी अपना कार्य कर रहे हैं और उनकी अमृतमयी आश्वासनमयी वाणी अब भी स्पष्ट सुनायी पड़ रही है : "मैं यहीं हूं! मैं यहीं हूं! (आइ एम हीयर! आइ एम हीयर)" माताजी के इस कथन में कि श्रीअरविन्द के लिये शोक करना अपमानजनक है, क्योंकि वे यहीं हमारे पास हैं, सचेतन और सजीव—एक मूर्तिमान सत्य प्रतीत होता है। १७ दिसंबर के सुंदर संदेश में भी यही सत्य जाज्वल्यमान है। यह माताजी की आत्मा की उस गहराई से निकला था जहां श्रीअरविन्द और वे एक हैं—सर्वथा एक। संदेश इस प्रकार है :

"प्रभो! आज सवेरे तूने मुझे इस बात का आश्वासन दिया है कि तू तबतक हमारे साथ रहेगा जबतक तेरा कार्य पूरा नहीं हो जाता—केवल उस चेतना के रूप में ही नहीं जो हमें मार्ग दिखाती और प्रकाश देती है, बल्कि कर्म के क्षेत्र में एक सक्रिय सत्ता के रूप में भी तू सदा हमारे पास रहेगा। तूने असंदिग्ध शब्दों में यह वचन दिया है कि तू अपनी समस्त सत्ता के साथ यहां वर्तमान रहेगा और जबतक यह पृथ्वी रूपांतरित नहीं हो जाती तबतक तू इसके वातावरण को नहीं छोड़ेगा। ऐसी कृपा कर कि हम तेरी इस अद्भुत उपस्थिति के योग्य बनें और अबसे हमारे अंदर की हर एक चीज तेरे महान् कार्य की पूर्ति के लिये अधिकाधिक पूर्ण आत्मसमर्पण करने के संकल्प पर ही केंद्रित रहे।"

२४ अप्रैल १९५१, को जब समुद्र-तट पर डा० श्यामाप्रसाद मुखर्जी के सभापतित्व में 'श्रीअरविन्द स्मारक विश्व-विद्यालय केंद्र'[१] का अधिवेशन हुआ था तो उसका उद्‌घाटन करते हुए माताजी ने कहा था :

"श्रीअरविन्द हमारे बीच मौजूद हैं और अपनी सृजनशील प्रतिभा की पूरी शक्ति के साथ विश्वविद्यालय के इस आयोजन की देख-रेख कर रहे हैं। वर्षों से वे ऐसे विश्व-विद्यालय के बारे में भावी मानवजाति को अति-मानसिक प्रकाश के लिये तैयार करने के सर्वोत्तम साधन के रूप में सोचा करते थे, उस अतिमानस प्रकाश के लिये जो आज के विशिष्ट व्यक्तियों को पृथ्वी पर नया प्रकाश, नयी शक्ति और नया जीवन अभिव्यक्त करनेवाली नयी जाति में रूपांतरित कर देगा। उन्हीं श्रीअरविन्द के नाम पर मैं इस विशेषाधिवेशन का उद्‌घाटन करती हूं जो कि उनके विशेष प्रिय आदर्श को चरितार्थ करने के उद्देश्य से होने जा रहा है।"

हम लोग, जिनका आश्रम से संबंध है, जिन्हें श्रीअरविन्द के दर्शनों का सौभाग्य एक बार भी हुआ है, यह प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं कि श्रीअरविन्द यथापूर्व अब भी विद्यमान हैं और जबतक इस जगत् के दिव्य रूपांतर का कार्य पूरा नहीं हो जाता तबतक वे हमारे बीच बने रहेंगे।

और महा-महिमामयी, जगज्जननी, महालक्ष्मी, महासरस्वती और महेश्वरी-रूपा यह हमारी मां जबतक हमारे सामने हैं तबतक किसी भी बात की चिंता क्यों ?

मां तेरी जय हो, जय हो !

[१] अब इसका नाम 'श्रीअरविन्द अंतर्राष्ट्रीय शिक्षा-केंद्र' हो गया है।

६

माताजी

श्रीअरविन्द के बारे में लिखते हुए यह असंभव है कि माताजी का जिक्र न किया जाये। परंतु माताजी को यह पसंद नहीं कि उनके बारे में कुछ कहा या लिखा जाये, इसलिये लेखक के सामने बड़ी कठिन समस्या खड़ी हो जाती है। हमें इतना कहकर ही चुप हो जाना पड़ता है कि श्रीअरविन्द के सारे कार्य के पीछे माताजी की शक्ति ही काम कर रही है। उनके बारे में श्रीअरविन्द ने कहा है :

"श्रीमां अतिमानस को नीचे लाने के लिये आती हैं और अतिमानस का अवतरण उनकी पूर्ण अभिव्यक्ति को संभव बनाता है।"

'आकाशवाणी' के आग्रह पर माताजी ने अपने जीवन के संस्मरण इन शब्दों में सुनाये थे :

"संस्मरण बहुत संक्षिप्त होंगे। मैं श्रीअरविन्द से मिलने के लिये हिंदुस्तान आयी थी। मैं श्रीअरविन्द के साथ रहने के लिये हिंदुस्तान में रही। जब उन्होंने अपना शरीर त्याग दिया तो मैं उन्हीं का काम करने के लिये यहां बनी रही। उनका काम है 'सत्य' की सेवा करके और मानवजाति में ज्योति लाकर, धरती पर भागवत प्रेम के राज्य को जल्दी लाना।"

माताजी अपनी एक प्रार्थना में भगवान् से कहती हैं :

"हे प्रभो, मेरे सब विचार तेरे हैं, मेरे हृदय के समस्त आवेग और भावनाएं, मेरे सब इंद्रिय-ज्ञान, मेरे प्राण का प्रत्येक स्पंदन, मेरे जीवन की

प्रत्येक गतिविधि, मेरे शरीर का एक-एक अणु, मेरे रक्त का एक-एक बिंदु तेरा है। मैं सर्व प्रकार से और समग्र रूप से तेरी हूं, बिना कुछ भी बचाये समग्र रूप में तेरी हूं। मेरे लिये तू जीवन चुने या मरण, हर्ष लाये या शोक, सुख दे या दुःख, जो कुछ भी तेरी ओर से मिलेगा वह सब शिरोधार्य होगा। तेरी प्रत्येक देन मेरे लिये सदा ही एक दिव्य देन होगी, अपने साथ परम आनंद लानेवाली दिव्य देन होगी।"

माताजी का शरीर फ्रांस में पैदा हुआ था। जब वे तेरह वर्ष की थीं तो :

"...प्रत्येक रात ज्यों ही मैं बिछौने पर लेटती मुझे ऐसा मालूम होता कि मैं अपने शरीर से बाहर निकल आयी हूं और सीधी ऊपर की ओर, अपने मकान के ऊपर की ओर, फिर शहर के ऊपर, बहुत ऊंचाई पर उठ गयी हूं। फिर मैं देखती कि मैंने एक चमचमाता सुनहला चोगा पहन रखा है जो मुझसे बड़ा है, और जैसे-जैसे मैं ऊपर उठती वैसे-वैसे वह चोगा भी बढ़ता जाता, मेरे चारों ओर गोलाकार फैलता जाता, मानों शहर के ऊपर एक विशाल छत का रूप ले रहा हो। फिर मैं देखती कि सभी ओर से मनुष्य, स्त्रियां, बच्चे, बूढ़े, बीमार, दुःखी बाहर आते हैं, वे चारों ओर फैले हुए चोगे के नीचे एकत्र होते और सहायता के लिये विनती करते, अपनी विपत्तियों, अपने दुःख-कष्टों, अपनी पीड़ाओं की कहानियां सुनाते। उत्तर में वह नमनीय और सजीव चोगा प्रत्येक व्यक्ति की ओर अलग-अलग फैल जाता और ज्यों ही वे उसे छूते त्यों ही वे आश्वस्त या नीरोग हो जाते और शरीर से बाहर निकलने के समय से अधिक प्रसन्न और सबल बनकर अपने शरीर में वापस चले जाते। कोई और चीज मुझे इससे अधिक सुंदर नहीं प्रतीत होती थी, कोई और चीज मुझे इससे अधिक सुख नहीं देती थी और दिन के मेरे सभी कार्य रात के इस कार्य की तुलना में, जो कि मेरे लिये सच्चा जीवन था, बड़े नीरस और भद्दे, सच्चे जीवन से खाली प्रतीत होते थे। प्रायः जब मैं इस तरह ऊपर उठती, मैं अपनी बायीं ओर एक वृद्ध पुरुष को देखती थी जो नीरव और निश्चल दिखायी देते थे और मेरी ओर

हिताकांक्षी स्नेह की दृष्टि से ताका करते तथा अपनी उपस्थिति से मुझे उत्साहित करते थे। ये वृद्ध व्यक्ति जो गहरे बैंगनी रंग का एक लंबा चोगा पहने होते—मुझे बाद में मालूम हुआ—उसकी साकार मूर्ति थे जिसे दुःख-पुरुष (मैन ऑफ सॉरोज़) कहते हैं।"

मानव दुर्बलता के कारण हम माताजी को सामान्य मानव मां मान बैठते हैं और उनके दूसरे, अधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व की अवहेलना कर जाते हैं। हमें मानव मां के आगे मचलने की, हठ करने की और उसपर अपना अधिकार जताने की आदत है, परंतु भगवती मां के साथ ये चीजें नहीं चल सकतीं। इनके आधार में अहंकार काम करता है जब कि भगवती के सामने अहंकार टिक नहीं सकता। यहां सच्चे प्रेम का राज्य है। मानव प्रेम बांधता है और सच्चा प्रेम सच्ची स्वतंत्रता देता है। यदि हम अपने-आपको बदलने के लिये तैयार हों तो दिव्य माता हमें हाथ पकड़कर क्षुद्रता में से ऊपर उठाती हैं और हमारे व्यक्तित्व के केंद्र में अहंकार की जगह दिव्य तत्त्व की स्थापना करती हैं। यूं तो हममें से हर एक की हृदय-गुहा में दिव्य तत्त्व की चिंगारी मौजूद है, पर उसके ऊपर मनों कूड़ा-कबाड़ पड़ा रहता है जिसके कारण उसका अस्तित्व भी संदेह का विषय बन जाता है। भगवती मां इस अग्नि को प्रज्ज्वलित करती हैं और एक बार उसकी ज्वाला धधक उठे तो अविद्या-अंधकार की बड़ी-से-बड़ी शक्ति भी उसके सामने नहीं टिक सकती।

माताजी ने हमें सिखाया है कि हमें साधारण मानव के प्रमाद, आलस्य, विषय-भोग अथवा ज्वर से भरे जीवन में से बाहर निकलना होगा। हमें भगवान् की प्राप्ति को अपने जीवन की अनेक अभिलाषाओं में से एक न मानकर अपने जीवन का एकमात्र लक्ष्य मानना होगा। श्रीअरविन्द कहते हैं :

"जो कुछ तुम चाहते हो उसे एक ओर रख दो और यह जानने की इच्छा करो कि भगवान् क्या चाहते हैं। केवल यह जानने की कोशिश करो

कि भगवान् ने तुम्हारे लिये क्या उचित और आवश्यक निर्धारित किया है। इस प्रकार कर्तव्य-कर्म की भगवान् से जिज्ञासा करते हुए कर्म करना और फल का भार भगवान् पर छोड़ देना कर्म-समर्पण की पहली सीढ़ी है।"

एक और जगह श्रीअरविन्द कहते हैं :

"तुम्हें इस तरह परेशान नहीं होना चाहिये मानों सारी जिम्मेदारी तुम्हारे सिर है और सारा परिणाम तुम्हारे ही प्रयास पर निर्भर है। तुमसे कहीं अधिक शक्तिशाली सत्ता इस काम में लगी हुई है। चाहे कोई दुःख-दर्द हो या महान् संकट, चाहे तुम्हारे अंदर कोई पाप या गंदगी उभर रही हो, तुम्हें किसी चीज से नहीं घबराना चाहिये। भगवान् को ही दृढ़तापूर्वक पकड़े रहो, उनके वचन पर विश्वास करो : 'मैं तुम्हें सब पापों और दोषों से मुक्त कर दूंगा।' जब तुम यह अनुभव करोगे कि भगवत्-शक्ति केवल प्रेरणा और पथ-प्रदर्शन ही नहीं करती, तुम्हारी सब क्रियाएं उन्हींकी शक्ति से चलती हैं, तुम्हारी सब शक्तियां भगवान् की हैं, . . . तो तुम संघर्ष और दुःखमय जीवन की सीमा को पार करने लगोगे। परंतु इसमें दिल की सचाई बहुत जरूरी है। आदमी अपने-आपको बहुत आसानी से धोखा दे सकता है। महत्त्वाकांक्षा रास्ते का एक बहुत बड़ा रोड़ा है। हमारे अंदर छिपे हुए बहुत सारे विरोधी तत्त्व सहसा जाग जाते हैं और हमारे पथ में बाधा डालने लगते हैं। वे कभी-कभी बड़े सुहावने, सलोने और लुभावने रूप बनाकर आया करते हैं। उनके फेर में न आकर, सीधे मार्ग पर चलते जाना अत्यंत आवश्यक है और यह माताजी की सहायता से ही हो सकता है।"

आज मानवता को माताजी के इस संदेश की बहुत जरूरत है जिसमें वे कहती हैं :

"हमारा साधारण लक्ष्य है, विश्व में विकासशील समन्वय लाना और परस्पर-विरोधी तत्त्वों में समस्वरता पैदा करना। धरती पर इसे प्राप्त करने

के लिये मानव एकता की बहुत जरूरत है और इसके लिये जरूरी है कि सबके अंदर एक और अविभाज्य दैवी तत्त्व जाग्रत् हो उठे।"

एक और संदेश में माताजी ने बताया है कि एकता आयेगी और संसार में भगवान् का राज्य स्थापित होगा—इसमें जरा भी संदेह नहीं। यदि हम खुशी से भगवान् के इस काम में सहायता न देंगे तो प्रकृति के थपेड़े हमसे यह काम करवा के रहेंगे।

१९७२ में पूरी गंभीरता के साथ श्रीअरविन्द की शताब्दी मनायी गयी और उसके बाद माताजी ने सक्रिय रूप से काम से हाथ खींचना शुरू किया। १९७३ की १७ नवंबर को उन्होंने अपना भौतिक आवरण त्याग दिया। २० तारीख को उनका शरीर श्रीअरविन्द की समाधि में बनें हुए कक्ष के अंदर प्रतिष्ठित कर दिया गया। उनका काम आज भी पहले की तरह चल रहा है।

आज भी माताजी और श्रीअरविन्द संसार को उसके उज्ज्वल भविष्य की ओर ले जाने में लगे हैं। उनकी विजय निश्चित है। संसार में चारों ओर फैली अंध व्यवस्था हमें आशा दिलाती है कि अब पौ फटने को है।

श्रीअरविन्दाश्रम

श्रीअरविन्दाश्रम प्रचलित अर्थों में एक संस्था नहीं है। यह एक परिवार है। हम कह सकते हैं कि यह हमारे गुरु का कुल है। श्रीअरविन्द ४ अप्रैल, १९१० को अपने मुट्ठी-भर साथियों को लेकर पांडिचेरी आये थे। उनके साथ कुछ ऐसे युवक थे जो श्रीअरविन्द के सहवास से लाभ उठाना चाहते थे अथवा उनकी सेवा करने के इच्छुक थे। उन दिनों यहां तरह-तरह की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। "जो घर फूंके आपना, सो चले हमारे संग" की बात थी। १९१४ की २९ मार्च को माताजी ने यहां पहली बार पदार्पण किया और श्रीअरविन्द से भेंट की। दोनों ने एक-दूसरे को पहचाना और भावी कार्यक्रम निश्चित हो गया। पर कई बाधाओं के कारण माताजी को एक बार वापिस जाना पड़ा और वे दूसरी बार २४ अप्रैल, १९२० को यहां आयीं। साधना का कार्य तेज हो गया और १९२६ की २४ नवंबर को श्रीअरविन्द और माताजी ने सिद्धि प्राप्त की। उस दिन से श्रीअरविन्द ने लोगों से मिलना-जुलना छोड़ दिया और इस नीड़ की सारी व्यवस्था माताजी के हाथों में आयी। हम कह सकते हैं कि इसी दिन से श्रीअरविन्दाश्रम के वर्तमान रूप का आरंभ हुआ।

लोग घर-बार छोड़कर भगवान् के मार्ग पर चलने के लिये, अपनी नौकाएं जलाकर, मंझधार में कूदने लगे। माताजी ने साक्षात् महालक्ष्मी और अन्नपूर्णा का रूप धारण किया और सबकी देख-भाल करने लगीं। लोग एक बार दर्शन के लिये आते और फिर यहीं के हो जाते। माताजी उनकी सब आवश्यकताएं पूरी करती थीं ताकि वे पूरी तरह निश्चिंत होकर भगवान् के काम में लग सकें। यह क्रम १९७२ तक चलता रहा। आजकल नये लोग नहीं लिये जा रहे हैं, फिर भी यहां बाल-वृद्ध, सब मिलाकर 2000 के लगभग व्यक्ति हैं।

श्रीअरविन्द का आश्रम उनकी प्रयोगशाला है जहां विभिन्न परिस्थितियों में

मनुष्य के प्रत्येक पहलू का अध्ययन होता है तथा उसे नाना प्रकार की समस्याओं का सामना करके आंतरिक बल से उनका मुकाबला करने की विद्या सीखनी होती है। वहां जीवन को समग्र रूप में लेकर उसे ऊंचा उठाने का प्रयास किया जाता है।

जहांतक शिक्षा का संबंध है, हमारे देश के सामने यह बड़ी समस्या है कि आधुनिकता की धारा का पूरा लाभ उठाते हुए देश के आध्यात्मिक मूल्यों को किस तरह आगे लाया जाये। अपनी प्राचीन परंपरागत विद्या को आज के लिये कैसे उपयोगी बनाया जा सके और इन परस्पर-विरोधी लगनेवाली धाराओं का समन्वय करके कैसे एक नयी ज्ञान-गंगा "बहायी जाये" जो प्राचीन अध्यात्म और अर्वाचीन भौतिक शास्त्रों के पूरे लाभ को हमारे जीवन में उतार सके। देशवासियों की दृष्टि में विस्तार कैसे लाया जाये ताकि वे "मेरा चूल्हा और मेरी चक्की" का झगड़ा छोड़कर विश्वमानव बन सकें और इसके साथ-ही-साथ प्रत्येक व्यक्ति को ऐसा अवसर मिल सके कि वह अपने दैनिक जीवन के झगड़ों से अलग रहकर अपने अंदर छिपी हुई क्षमताओं को विकसित कर सके और अपने अंदर के विभिन्न व्यक्तित्वों में सामंजस्य लाकर पूर्ण मानव बन सके।

यह केवल भारत के लिये ही नहीं, संसार के लिये आवश्यक है। श्रीअरविन्द के आश्रम में इस दिशा में एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग हो रहा है। आश्रम में प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता, अपनी आवश्यकता के अनुसार इस प्रयोग में भाग ले रहा है। वहां का वातावरण एक अपनी ही विशेषता रखता है जिसका वर्णन करना असंभव है। वहां एक शिक्षा-केंद्र है जिसमें विभिन्न देशों और प्रदेशों के विद्यार्थी और अध्यापक एक ही छत के नीचे बिना किसी भेद-भाव के काम करते हैं। हर एक बच्चा बिना विशेष प्रयास के पांच-छः भाषाएं तो जान ही लेता है और फिर आये दिन भाषण और प्रदर्शनियों के ऐसे-ऐसे कार्यक्रम होते रहते हैं जिनके द्वारा भिन्न-भिन्न देशों का परिचय होता है। यहां के विद्यालय में प्रायः दस भारतीय और छः विदेशी भाषाएं सीखने की व्यवस्था है और लगभग डेढ़ हजार की इस बस्ती से अंग्रेजी, फ्रेंच, इटैलियन, हिंदी, संस्कृत, बंगला, गुजराती, मराठी, ओड़ीया,

कन्नड़, तमिल, तेलुगु, आदि की लगभग पंद्रह पत्रिकाएं प्रकाशित होती हैं और इन सब भाषाओं में साहित्य भी प्रकाशित होता रहता है।

विद्यार्थियों को प्राचीन और नवीन दर्शन, साहित्य, इतिहास आदि के अतिरिक्त भौतिकी, रसायन, प्राणी-शास्त्र, और इंजीनियरिंग, कम्प्यूटर तक की शिक्षा दी जाती है और उन्हें भरसक क्रियात्मक प्रयोग करने के अवसर दिये जाते हैं। कला-पक्ष को विकसित करने के लिये भारतीय और पश्चिमी संगीत, नृत्य, चित्रकला, नाटक आदि की भी समुचित व्यवस्था है।

इन सबके अतिरिक्त, आजादी का वातावरण, जब आवश्यकता हो तो समुचित सलाह, अपनी क्षमताओं को विकसित करने में प्रोत्साहन और पूरे बाह्य विकास के साथ-साथ अंतर के साथ संबंध—ये आश्रम-शिक्षा-प्रणाली की कुछ विशेषताएं हैं। आश्रम में विद्यार्थी के लिये पढ़ाई एक भार नहीं बनने पाती। वह भी खेल-कूद, नाच-गान के साथ-साथ जीवन का एक अंग होती है। उनके अध्यापक उनसे अनुचित लाभ उठानेवाले या उनपर दवाव डालनेवाले नहीं होते। जो विद्यालय की श्रेणी में अध्यापक और विद्यार्थी हैं वही भोजनालय में, क्रीड़ांगण में साथी होते हैं जिनमें बराबरी का-सा संबंध होता है।

यूं तो तीन वर्ष की आयु से पढ़ाई का कार्यक्रम शुरू हो जाता है और स्नातकोत्तर श्रेणियोंतक की व्यवस्था है, पर कहीं कठोर नियम नहीं है। कोई विद्यार्थी किसी विषय में न चल सकने के कारण अन्य सब विषयों से वंचित नहीं किया जाता। शिक्षाविषयक नाना प्रकार के परीक्षण हो रहे हैं जिनमें परीक्षाओं को बिलकुल उड़ा दिया गया है। श्रीअरविन्द ने हमें बताया है कि ज्ञान अंदर है। अध्यापक का काम है कि वह विद्यार्थी के अंदर छिपी हुई समझने की शक्ति और सहज-ज्ञान को बाहर लाने में सहायता दे। हर विद्यार्थी के विकास के बारे में उसकी सलाह और उसका सक्रिय सहयोग जरूरी है और हर एक को इतनी सुविधाएं मिलनी चाहियें कि वह अपनी आवश्यकता के अनुसार अपनी ही गति से आगे बढ़ सके। लेकिन अगर वह न बढ़ना चाहे तो उसकी भी आजादी है।

इतना ही नहीं, आश्रम चेतना के विकास में पूरी-पूरी सहायता देता है।

श्रीअरविन्द का कहना है कि चेतना के विकास में मनुष्य-योनि एक कदम है, उससे ऊपर उठना जरूरी है। आज न सही, कल इसे अपने वर्तमान स्तर को छोड़कर ऊपर उठना ही होगा। विचार-जगत् में एकता, शांति, सामंजस्य की बातें इस आनेवाले युग का प्रथम चिह्न हैं। परंतु श्रीअरविन्द को इतने से ही संतोष नहीं है। वे इन सब दैवी संपदाओं को यहां, पार्थिव जगत् में, उतारना चाहते हैं और उनका कहना है कि यह काम भारत के जिम्मे है। भारत ही भगवान् को धरती पर लायेगा। आश्रम इस दिशा में एक प्रयास है।

श्रीअरविन्दाश्रम में प्रविष्ट होने के लिये कोई नियम नहीं है। यहांपर उद्दालक, आरुणि अथवा उपमन्यु आदि की तरह कड़ी परीक्षाओं में से उत्तीर्ण नहीं होना पड़ता। जो श्रीअरविन्द को अपना गुरु मानते हों, जो माताजी के बालक बनना चाहते हों, जिनके अंदर कुछ आग हो वे श्रीअरविन्द के परिवार के सदस्य बन सकते हैं : 'One who chooses the Infinite is chosen by the Infinite.' आप अपने मन में एक बार संकल्प कर लीजिये, "and the heavens reject not," "*स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।*" परंतु यह तो आरंभ है। साधक को अपना सारा जीवन, अपनी प्रत्येक क्रिया भगवान् को समर्पित करनी होती है। वह खाये तो प्राणाग्निहोत्र हो, वह सोये तो उसकी चेतना जागरूक रहे। उसकी प्रत्येक क्रिया, उसका प्रत्येक भाव अंतरात्मा को प्रतिबिंबित करता रहे। उसे तबतक अपना प्रयास करते रहना पड़ता है जबतक उसकी सारी चेतना अंतरात्मा की चेतना न बन जाये। वह पग-पग पर सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करता रहे। परंतु यह सब सरल नहीं है।

परांच खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः तस्मात् परां पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चित् धीरः प्रत्यगात्मानमैच्छन् आवृत्तचक्षुः अमृतत्त्वमिच्छन्॥

श्रीअरविन्द-योग में पुरानी परिपाटियों के अनुसार जीवन का परित्याग करके मोक्ष या अपवर्ग पाना अथवा आवागमन से पीछा छुड़ाना हमारा लक्ष्य नहीं है। पूर्णयोग के लक्ष्य के बारे में श्रीअरविन्द ने कहा है :

"हमें अब कौन-सी नयी वस्तु प्राप्त करनी है ? प्रेम—क्योंकि अभीतक तो हमने केवल द्वेष और आत्म-संतोष ही पाया है। ज्ञान—क्योंकि अभीतक तो हमें केवल स्खलन, अवलोकन और विचार-शक्ति ही प्राप्त हुई है। आनंद—क्योंकि हम अभीतक सुख, दुःख और उदासीनता ही प्राप्त कर पाये हैं। शक्ति—क्योंकि अभीतक तो निर्बलता, प्रयत्न और पराजित विजय ही हमारे पल्ले पड़ी है। जीवन—क्योंकि अभीतक हमने जन्म, वृद्धि, मरण ही तो पाया है, और हमें प्राप्त करना है ऐक्य—क्योंकि अभीतक युद्ध और संघ की ही उपलब्धि हुई है न ! एक शब्द में कहें तो हमें भगवान् को पाना है और अपने-आपको उनके दिव्य स्वरूप की प्रतिमा के रूप में फिर से गढ़ना है।"

हम कह सकते हैं कि यह आश्रम उपर्युक्त लक्ष्य को सामने रखकर एक नया जीवन गढ़ने की प्रयोगशाला है। जैसे वैज्ञानिक अपनी प्रयोगशाला में भांति-भांति के द्रव्य इकट्ठे करते हैं, उसी तरह वैज्ञानिक माताजी और श्रीअरविन्द ने भी अपने आश्रम में तरह-तरह के लोग इकट्ठे किये हैं। बाहर से आनेवाले हर प्रकार के आदमी यहांपर अपने वर्ग के लोगों को पायेंगे। यहां सोना भी मिल सकता है और पत्थर भी—यह सब खोजनेवाले की दृष्टि पर निर्भर है। परंतु वैज्ञानिक को अपनी सभी वस्तुएं एक-सी प्रिय होती हैं और आवश्यक लगती हैं। जो काम कार्बन से हो सकता है उस जगह सोना किस काम का ? इसी तरह जिन्होंने समस्त मानवजाति को बदलने का बीड़ा उठाया है उन्हें अपने-आप यहां इस कीचड़ में धंसना ही पड़ता है। केवल सात्त्विक लोगों को अपने साथ लेकर इस महान् कार्य की पूर्ति करना संभव नहीं है।

परंतु अभीप्सा करनेवाले हर एक व्यक्ति को घर-बार छोड़कर यहां आ बैठने के लिये नहीं कहा जाता। ऐसा कोई गज नहीं है जिससे मापकर कह दिया जाये कि अमुक व्यक्ति यहां रहने-योग्य है और अमुक नहीं। हर एक व्यक्ति की व्यक्तिगत आवश्यकता, उसकी आंतरिक स्थिति और अन्य परिस्थितियों को देखकर माताजी यह ठीक करती थीं कि कौन यहां रह सकता है और कौन नहीं। माताजी ने कहा है :

"जीवन के प्रति घृणा से प्रेरित होकर यहां योग करने के लिये नहीं आना चाहिये। जीवन की कठिनाइयों से भागकर भी यहां नहीं आना चाहिये। भागवत प्रेम और भागवत सुरक्षा पाने के लिये भी यहां आने की जरूरत नहीं है क्योंकि यदि तुम्हारी आंतरिक स्थिति ठीक है तो ये चीजें हर जगह बैठे-बिठाये मिल सकती हैं।

"जब व्यक्ति अपने-आपको पूरी तरह भगवान् की सेवा में लगा देना चाहे, अपने-आपको भगवान् के काम के लिये पूर्णतः न्यौछावर कर देना चाहे, जो अपनी सेवा के बदले भगवान् से कुछ न मांगे—शायद अधिकाधिक सेवा और समर्पण के अवसर मांगे जा सकते हैं—अगर यह हो तो कहा जा सकता है कि तुम यहां रहने के लिये तैयार हो और तुम्हें यहां के द्वार पूरी तरह खुले हुए मिलेंगे।"

आश्रम में रहनेवालों के लिये विधि-निषेध की तालिका नहीं दी जाती। हर एक से आशा की जाती है कि वह पग-पग पर अपनी अंतरात्मा की पुकार सुनकर उसके अनुसार कार्य करेगा। एक ही काम भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के लिये भिन्न-भिन्न रूप धारण कर सकता है; जो एक के लिये अमृत है वही दूसरे के लिये विष हो सकता है। यहां हर एक काम भगवान् का है और उनको समर्पित करके किया जाता है। "*इदं न मम*" की बात है। काम शरीर के द्वारा की गयी सर्वोत्तम प्रार्थना है। इसलिये कहा गया है: "Let us work as we pray." अगर काम समर्पण-भाव से किया गया हो तो: "*न कर्म लिप्यते नरे*," केवल इतना ही नहीं, वह ऊपर उठाता है और भगवान् की ओर ले जाता है।

आश्रम में पठन-पाठन, उच्च शिक्षा आदि से लेकर कपड़े धोने और जूते सीने तक के विभाग हैं और इनका बहुत-सा काम आश्रमवासियों द्वारा किया जाता है।

सन् १९६० में पं० सातवलेकरजी आश्रम आये थे। उन्होंने बड़े विस्तार से आश्रम के प्रत्येक विभाग को देखा और कइयों के बारे में बातचीत करते हुए बड़ी मजेदार बातें कहीं। यहां पंडितजी की कुछ बातों को उद्धृत करना

अप्रासंगिक न होगा। (ये स्वयं उनकी पत्रिका 'वैदिक धर्म' से ली गयी हैं।)

"जिस चीज के लिये मैं पचास-साठ वर्षों से प्रार्थना करता आया हूं, आज उसको यहां मूर्त रूप में देख रहा हूं। वैदिक युग के बाद इस धरती पर शायद इस प्रकार का प्रयास पहली बार हो रहा है। यहां की साधना पूर्ण रूप से वैदिक साधना है। जिन-जिन चीजों की ओर वेद ने संकेत किया है वे सब यहां पर प्रतिष्ठा पा रही हैं यह देखकर मेरा मन आनंद-विभोर हो उठता है।" तिरानवे वर्ष के युवक, वेद के प्रकांड पंडित, जिनकी पुस्तकों से और जिनके जीवन से हजारों ने प्रकाश पाया है, ऐसे पंडित श्रीपाद दामोदर सातवलेकर श्रीअरविन्दाश्रम के बारे में बातें कर रहे थे। पंडितजी जीवन के नानाविध अनुभवों में से गुजरे हैं। अभी कुछ समय पहले वे श्रीअरविन्द और श्रीमाताजी के चरणों में श्रद्धांजलि अर्पित करने यहां आये थे।

पंडितजी का सारा जीवन वेदों के अध्ययन और प्रचार में ही लगा है। वे सुनाया करते थे कि एक विद्वान् सौ वर्ष तक वेद का अध्ययन करता रहा, जब उसका अंत समय आया तब इंद्र ने कहा : "वत्स! मैं तुम्हें और सौ वर्ष का आयुष्य देता हूं। बोलो, इन सौ वर्षों में क्या करोगे ?" "वेदाध्ययन", चट से जवाब मिल गया। इसमें भी कोई सोचने की बात थी भला! इसी प्रकार तीन बार हुआ और तीनों बार उसे वेदाध्ययन के लिये सौ-सौ वर्ष मिलते गये। अंत में उसने कहा : "अब मैं वेद का अर्थ कुछ-कुछ समझने लगा हूं।"

इसी प्रकार पंडित जी भी कहा करते थे कि वेद का अर्थ समझने का प्रयास कर रहा हूं। वह आखिर कोई मानसिक या बौद्धिक पुस्तक तो है नहीं, यहां तो जैसे माताजी ने किसी और प्रसंग में कहा था : "घोषणा मत करो, अनुभव करो"—(Do not announce, realize) प्राप्त करने की बात है। वेद के कुछ मंत्रों पर श्रीअरविन्द ने जो टीका की है, उनके अंतरतम रहस्य को साधारण मनुष्य की भाषा में रखने का जो प्रयास किया है, उनके गुह्य आध्यात्मिक मोतियों को सर्वसुलभ बनाने की जो कोशिश

की है उसपर पंडितजी मुग्ध थे और अंतिम दिनों में श्रीअरविन्द की शैली का अध्ययन करने में लगे थे। इतने बड़े विद्वान् में इतनी नम्रता जरा मुश्किल से ही दिखायी देगी।

श्रीअरविन्दाश्रम में, जात-पांत, ऊंच-नीच, देशी-विदेशी या स्त्री-पुरुष के भावों को कोई स्थान नहीं मिलता। हो सकता है आप जिसके पास बैठकर भोजन कर रहे हों, वह यहां आने से पहले एक चमार रहा हो, संभव है कि आपके पास के कमरे में रहनेवाला बड़ा कट्टर ब्राह्मण रहा हो। संभव है कि आपके सामने के बगीचे में सूखे पत्ते तोड़ता हुआ मनुष्य कहीं पर बड़ा सेठ रह चुका हो। यहां के लोग एक-दूसरे के बारे में न तो ये सब बातें जानते ही हैं और न जानने की परवाह ही करते हैं—"जात-पांत पूछे नाहि कोई, हरि को भजे सो हरि को होई।" एक बार स्वयं गांधीजी ने कहा था : "मैं छुआछूत की समस्या को हल करने के लिये इतना प्रयास कर रहा हूं फिर भी कठिनाइयां कम नहीं होतीं। तुम्हारे आश्रम में माताजी ने न जाने क्या कर दिया है कि यह प्रश्न ही नहीं उठता!"

खैर, यह जात-पांत आदि की बात तो समझ में आ जाती है, पर आश्रम में, विद्यालय में, क्रीड़ांगण में सभी जगह लड़के-लड़कियां बिना किसी भेद-भाव के मिलते रहते हैं और सह-शिक्षण से उत्पन्न होनेवाली समस्याएं यहां समस्या का रूप धारण नहीं करतीं, यह चीज बहुतों को खटकती है। जिन्हें शहरों में कॉलेजों का अनुभव है वे कुछ आश्चर्य के साथ पूछते हैं : "यह क्या? योगाश्रम में कामिनी-कांचन का बहिष्कार क्यों नहीं?" पं० सातवलेकरजी की मर्मभेदी आंखों के सामने भी यह चीज आयी। उन्होंने कहा : "इस आश्रम की एक चीज मुझे बहुत ही पसंद आयी, जानते हो क्या?" मैंने जरा उत्सुकता से पूछा : "वह कौन-सी?" पंडितजी ने कहा : "यहां पर माताजी स्त्री-पुरुष का भेद नहीं करतीं। इसके पीछे मुझे एक बहुत बड़ी चीज दिखायी दे रही है। मुझे लगता है कि माताजी यहां पर शुद्ध आध्यात्मिक समाज की स्थापना कर रही हैं। वेद में बताया गया है कि आत्मा में स्त्री-पुरुष, कुमार-कुमारी, बाल-वृद्ध आदि के भेद नहीं होते। मुझे दिखायी दे रहा है कि माताजी यहांपर ऐसा ही समाज बनाना चाहती

हैं जहां आत्मा का आत्मा के साथ मिलन हो, जहां यह सवाल ही न पैदा हो कि वह आत्मा स्त्री का चोला धारण किये हुए है या पुरुष का। हो सकता है कि छिद्रान्वेषी इसमें कुछ त्रुटियां दिखायें, मैं भी यह नहीं कह रहा कि यह चीज पूर्ण रूप से सिद्ध हो चुकी है, परंतु प्रयास उसी दिशा में है। जिस दिशा में वेद ने अंगुलि-निर्देश किया था, उस ओर माताजी सफलता प्राप्त करके रहेंगी।''

आश्रम में एक विभाग है जो आश्रमवासियों की विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओं को पूरा करता है। तेल, साबुन, कपड़े-लत्ते आदि वस्तुएं वहीं से मिलती हैं। उसका नाम है ''Prosperity'' (प्रॉस्पेरिटी)। पं० सातवलेकरजी उसे देखने गये तो खुशी से उछल पड़े। बोले: "यहां है सच्ची आध्यात्मिकता। वेद में कहीं भी तथाकथित संन्यास-मार्ग का उपदेश नहीं दिया गया। हम हमेशा ऐसी प्रार्थनाएं देखते हैं कि भगवान् हमें घोड़े दें, गौएं दें, समृद्धि दें, बल दें और ओज दें। कहीं भी यह नहीं कहा गया है कि भगवान् हमें ग़रीब बना दें, हम भूखों मरें, हमारे पास कपड़े न हों। हम पेड़ के नीचे पड़े रहें। पार्थिव तत्त्व का बहिष्कार, समृद्धि का बहिष्कार और जगत् से मुंह मोड़कर परलोक का चिंतन वैदिक चीज नहीं है। वैदिक काल में जनक जैसे आध्यात्मिक राजा राज्य करते थे, वसिष्ठ जैसे ऋषि राजा के पास रहकर सलाह दिया करते थे। वे संसार छोड़कर जंगल में नहीं भागते थे। ये सब चीजें तो भारत की अधोगति के जमाने की हैं। आज मैं देखता हूं कि माताजी भी तुम लोगों को क्रियात्मक रूप से Prosperity का उपदेश दे रही हैं, Austerity का नहीं। माताजी पार्थिव जगत् का बहिष्कार नहीं करतीं, उसे अध्यात्म के राज्य में रखना चाहती हैं, उसका भी रूपांतर करना चाहती हैं। जीता-जागता वैदिक युग यहीं पर जन्म ले रहा है। यहां किसी भी वस्तु का निरादर नहीं होगा, हर एक चीज अपने सच्चे रूप में और ठीक स्थान पर रहेगी।''

पंडितजी हमारा क्रीड़ांगण देखने गये। सामान्यतः कोई यह आशा नहीं करेगा कि तिरानवे वर्ष का एक पंडित खेल-कूद में रस ले सकता है। पर यह पंडित किसी और ही मिट्टी का बना था। उन्होंने देखा कि लड़कियां

लड़कों के साथ कंधा भिड़ाये कूद-फांद कर रही हैं और सब तरह के खेलों में भाग ले रही हैं। पंडितजी ने कहा : "वैदिक काल के बाद भारत का जो पतन हुआ उसके दो बड़े कारण ये हैं : भारतवासियों ने इहलोक से मुंह मोड़कर परलोक की ओर ताकना शुरू किया; परिश्रम करने की जगह भाग्य को कोसना शुरू किया और समाज के आधे अंग—स्त्रियों को—पंगु बना दिया।

"कैसे खेद की बात है ! जिस देश ने स्वयं 'शक्ति' की स्त्री के रूप में कल्पना की, जिस देश ने अपने पुराणों में देवों को तो छः और आठ से अधिक भुजाएं नहीं दीं, पर देवी में एक सौ आठ भुजाओं के दर्शन किये, उसी देश ने स्त्री का अपमान किया, उसे वेद पढ़ने का अधिकारी भी नहीं छोड़ा और केवल घर की चारदीवारी में बंद कर पाचन और प्रजनन के काम में लगा दिया। ये दो बहुत बड़े कारण हैं जिनसे भारत का पतन हुआ। मैं न जाने कब से यह प्रार्थना कर रहा था, 'प्रभो ! फिर से भारत की नारी का अभ्युत्थान हो, फिर से वह अपना उचित स्थान पा सके।' आजकल समाज में जो हो रहा है मैं उसे नारी की प्रगति नहीं मानता। सच्ची प्रगति देखनी हो तो यहां देखो। माताजी ने नारी को ऊपर उठाने का बीड़ा उठाया है और मैं फिर से यही कहूंगा कि यहां मुझे वैदिक आदर्श चरितार्थ होते दिखायी दे रहे हैं। मुझे मालूम नहीं था कि मैं जिन चीजों के लिये कम-से-कम पचास साल से अनवरत प्रार्थना कर रहा था वे धरती पर प्रकट हो चुकी हैं। सचमुच माताजी की बड़ी कृपा है।"

एक घटना और। पंडितजी माताजी की एक पुस्तक देख रहे थे। उसमें लिखा था कि मनुष्य वर्षों को गिनती के आधार पर बूढ़ा या जवान नहीं कहला सकता, जो प्रगति करता रहे वही जवान है और जो टिक कर बैठ गया वही बूढ़ा है (कुछ ऐसा ही भाव है, शब्द तो इस समय याद नहीं)। पंडितजी बोले : "कितनी सच्ची बात कही है ! वैदिक शास्त्रों के अनुसार एक सौ सोलह या बीस के बाद वृद्धावस्था आने का साहस कर सकती है। उससे पहले मृत्यु भी आ जाये तो साधक कह सकता है, 'मेरा जीवन यज्ञ है, मैं अभी आहुतियां दे रहा हूं, मुझे मरने की फुरसत ही नहीं है', और इस

उत्तर को सुनकर स्वयं मृत्यु को भी उल्टे पैरों वापिस जाना पड़ेगा।"

पर हां, यह संभव तभी होगा जब सारा जीवन यज्ञमय हो। पंडितजी ने बताया कि महाभारत में केवल भीष्म पितामह को वृद्ध माना गया है और वे एक सौ सत्तर से ऊपर के थे। इतनी दूर की बात छोड़ें, अभी कोई बारह-चौदह सौ वर्ष पहले जो चीनी और यूनानी यात्री भारत में आये थे उन्होंने लिखा है कि एक सौ चालीस वर्ष के लोग यहां पर गलियों में घूमते हुए मिला करते थे। माताजी ने कहा है कि वह पूर्ण रूप से सत्य है।

८

पत्र-लेखक श्रीअरविन्द

श्रीअरविन्द ने हजारों पत्र लिखे होंगे। इनमें से बहुत-से छप चुके हैं और बाकी कहीं इधर-उधर छिपे होंगे। कई वर्षों तक श्रीअरविन्द रोज आठ-दस घंटे पत्र लिखने में बिताया करते थे। इन पत्रों में दर्शन है, साहित्य है, कविताओं का संशोधन है और हर व्यक्ति की परिस्थिति के अनुसार सलाह है। कहीं गंभीरता-भरी भाषा है तो कहीं हास्यपूर्ण, उन्होंने कहीं अध्यापक बनकर सहानुभूति के साथ भूल सुधारी है और कहीं व्यंग्यपूर्ण भाषा में चपत लगायी है। हर व्यक्ति के साथ व्यक्तिगत संबंध के और विषय के आधार पर शैली भी बदलती है। 'योग के आधार', 'योग प्रदीप', 'इस जगत् की पहेली' आदि पुस्तकें श्रीअरविन्द के पत्रों के संकलन हैं। यहां हम नमूने के लिये दो-चार पत्र दे रहे हैं।

एक शिष्य ने कविता लिखना शुरू किया। उसने शिकायत की : "मुझे लिखने में बहुत समय लगता है और बहुत अधिक परिश्रम करना पड़ता है।" श्रीअरविन्द उत्तर देते हैं :

"इससे क्या हुआ ? परिणाम ठीक ही है। 'क' दिन में दस-बारह या इससे भी अधिक कविताएं लिख लेता था। सामान्यतः मुझे एक कविता लिखने और उसे ठीक करने में एक या दो दिन लग जाते हैं। और कभी बहुत प्रेरणा आ गयी तो दिन में दो कविताएं लिख लेता हूं और फिर दूसरे दिन उन्हें दोहराता हूं। कोई और कवि वर्जिल की तरह हो सकता है जो दिन में नौ पंक्तियां और इधर-उधर के टुकड़े लिख लेता था और फिर दो सप्ताह से दो महीने तक उन्हें ठीक करने में लगाता था। इसकी परवाह न करो कि कितना समय लगता है। कार्य की पूर्ति और उसकी अच्छाई का ही महत्त्व है। निशिकांत की आश्चर्यजनक तेजी देखकर हिम्मत न हारो।"

अपना मार्ग ढूंढ़ते हुए नये कवि के लिये कितना बड़ा प्रोत्साहन है। किसी ने मानव प्रेम के बारे में पूछा तो श्रीअरविन्द उत्तर देते हैं :

"मानव प्रेम पर भरोसा नहीं किया जा सकता; वह स्वार्थपरता और कामनाओं के आधार पर खड़ा होता है। वह अहं की ज्वाला है जो कभी धूमिल होती है तो कभी चमकदार और रंगीन। कभी उसका आधार तामसिक अंध प्रेरणाओं और आदतों से बनता है, तो कभी राजसिक तत्त्वों से जिनमें आवेगों और आवेशों को झोंका जाता है, या फिर वह प्राणगत आदान-प्रदान की भित्ति पर खड़ा होता है। हां, कभी कुछ सात्त्विक-सा रूप भी होता है जो अधिक निष्काम दिखायी देने का प्रयत्न करता है। मूलरूप से यह किसी व्यक्तिगत आवश्यकता या किसी आंतरिक या बाह्य बदले पर आधारित होता है और जब आवश्यकता पूरी नहीं होती या बदला नहीं मिलता तो संतोष कम हो जाता है या खतम हो जाता है और रहा भी तो पुरानी आदत के अवशेष के रूप में रह जाता है। इसमें जितनी उग्रता होती है उतने ही रगड़े-झगड़े, अहं के दावे होते हैं। क्रोध, घृणा और संबंध-विच्छेद तक की नौबत आ जाती है। मैं यह नहीं कहता कि इस प्रकार का प्रेम टिक ही नहीं सकता। सहज तामसिक प्रेम, जैसे कई पारिवारिक संबंध— एक आदत के कारण सब तरह का विरोध होते हुए भी चलते जाते हैं। राजसिक प्रेम हर तरह की बाधाओं, विरोधों और आवेशमय प्रस्फुटन के होते हुए भी बने रहते हैं, क्योंकि दो में से किसी एक को या दोनों को अपने प्राण के संतोष के लिये दूसरे की जरूरत होती है और इसलिये दोनों ही चिपटे रहते हैं। उनके जीवन में झगड़े और समझौते के चक्र चलते रहते हैं। सात्त्विक प्रेम कर्तव्य या आदर्श या ऐसी ही किसी दृष्टि से बना रह सकता है। लेकिन प्रेम में सच्ची प्रामाणिकता तभी आ सकती है जब उसमें अंतरात्मा का तत्त्व हो।"

आश्रम से एक विलक्षण कहानेवाला व्यक्ति चला गया। एक सज्जन ने इसके बारे में श्रीअरविन्द को लिखा। गुरु का उत्तर आया :

"उंह, एक सच्चा हृदय सारे संसार की विलक्षण शक्तियों से अधिक मूल्यवान है।" इसी बारे में फिर एक बार कहते हैं :

"अपने-आपको आध्यात्मिकता का केंद्र कहनेवाली संस्था की प्रतिष्ठा उसकी आध्यात्मिकता में है, बड़े आदमियों या अखबारों के स्तंभों में नहीं। . . . अगर हम प्रशंसा या निंदा की परवाह करते तो हमें आध्यात्मिकता को विदा कर देना पड़ता, मैं और माताजी कभी के पिस चुके होते। यह तो अभी हाल में ही आश्रम को कुछ प्रतिष्ठा मिलनी शुरू हुई है, इससे पहले तो वह हमेशा कड़ी आलोचना का लक्ष्य बना रहता था। और जो गंदी-भद्दी बातें फैलायी जाती थीं उनका तो कहना ही क्या है।"

श्रीअरविन्द से हर तरह की बात निस्संकोच पूछी जा सकती थी। किसीने पूछा : "आध्यात्मिक लोग शादी क्यों करते हैं? बुद्ध, कनफ्यूशियस और आपने शादी की और फिर घर-बार छोड़ दिया—यह बात समझ में नहीं आती।" श्रीअरविन्द उत्तर देते हैं :

"यह तो स्वाभाविक है। जब वे साधारण चेतना में थे तो साधारण जीवन बिताते थे। जब आंतरिक जागृति और नयी चेतना आयी तो साधारण जीवन को छोड़ दिया—विवाह आदि पुराने जीवन की बातें हो गयीं।"

किसीने पूछा : "मच्छर, खटमल, सांप, बिच्छू आदि को स्वरक्षा के लिये मारना ठीक है या नहीं?" श्रीअरविन्द ने लिखा, "जरूर, यों तो कीटाणु-नाशक हर दवाई और धुएं के विरुद्ध भी आपत्ति की जा सकती है।" शिष्य ने पूछा : "और मूक प्राणियों की बलि?" श्रीअरविन्द ने लिखा :

"वह बेकार और अवांछनीय है। जैसा कई संतों ने कहा है, यह निरर्थक है; इसलिये काली के आगे अहंकार, क्रोध, काम आदि की बलि दो, मुरगों

और बकरों की नहीं।...यज्ञ हमेशा आंतरिक वृत्ति पर निर्भर होता है। यदि आहुति देने के लिये तुम्हारे पास कुछ नहीं है तो अपने-आपको तो हमेशा दिया ही जा सकता है।"

शिष्य लिखता है: "मेरे एक मित्र अपनी कमजोरियों के कारण निराश हो रहे हैं। उन्हें आत्महत्या के विचार आ रहे हैं। मैं आपकी ओर से उन्हें क्या लिखूं?"

श्रीअरविन्द: "निराशा बेकार बात है और आत्महत्या बिलकुल अनुचित। आदमी चाहे कितनी भी ठोकरें खाये, यदि वह भगवान् से अभीप्सा करे तो उनकी कृपा हमेशा उसके साथ रहेगी और मुश्किलों में से उबार लेगी।"

अपने एक और पत्र में निराश होते हुए शिष्य से श्रीअरविन्द कहते हैं:

"मुझे विश्वास है कि हर एक ऐसे व्यक्ति के अंदर, जिसमें डटे रहने का धैर्य है और कोई मौलिक और अपने-आपको दूर हटानेवाली दुष्टता नहीं है, एक-न-एक दिन नीलचंद्र[१] अवश्य उदय होगा। और इस प्रकार की दुष्टतावालों में भी, यदि एक बार भी उन्होंने उसकी चाह की है तो एक दिन, भले ही देर क्यों न हो, नीलचंद्र जरूर प्रकट होगा।"

कितना बड़ा आश्वासन है हम सबके लिये!

[१] नीलचंद्र से यहांपर "आध्यात्मिक सौभाग्य" समझा जा सकता है।

९

श्रीअरविन्द और काव्य

साधारण मनुष्य कविता को एक मनोरंजन की वस्तु मानता है। समय काटने के लिये जहां बहुत प्रकार के विनोद हैं वहां कविता भी है। उसके लिये शब्दों का कर्णप्रिय जोड़-तोड़, प्रभावशाली वाक्य-विन्यास और हल्की-सी लय हो, मन को लुभानेवाले या भावनाओं को उत्तेजित करनेवाले छंद हों तो बस, उसे और कुछ नहीं चाहिये। उसकी दृष्टि में चीन को ललकारनेवाले छंद, प्रिया के विरह में विलाप से भरे छंद अथवा मकान के सामने से जाती हुई गोपबाला के वर्णन में लिखे छंद बड़ी अच्छी कविता का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस दृष्टि से देखें तो "जय जगदीश हरे", "झंडा ऊंचा रहे हमारा" तथा "कामायनी" शायद एक ही स्तर पर आ जायें, बल्कि हो सकता है कि साधारण पाठक "कामायनी" को दुरूह कहकर एक ओर रख दे तथा "हुआ सवेरा, जागो भैया" का पाठ करने लगे। इसी तरह कई बार साधारण ग्रामगीतों को रामायण और महाभारत से ऊंचा स्थान मिल सकता है।

कविता से हम आनंद की मांग तो करते हैं, पर वह कानों का, बुद्धि का अथवा कल्पना-शक्ति का सुख नहीं है। क्योंकि कान, कल्पना या बुद्धि सच्चे रूप में काव्य का आनंद लेनेवाले नहीं हैं। काव्य का सच्चा आनंद लेना तो हमारी आत्मा का काम है। कान आदि तो केवल उसके परिवहन का काम करते हैं और इनका काम इतना ही है कि अपनी ओर से कुछ घटाये-बढ़ाये बिना, काव्य को उसके स्रोत—आत्मा—तक पहुंचा दें। हम कह सकते हैं कि काव्य ने जबतक सामान्य इंद्रिय-सुख एवं बुद्धि-विलास को एक उच्चतर आध्यात्मिक आनंद में परिवर्तित नहीं कर दिया तबतक उसने अपना काम पूरा नहीं किया।

जिन दिनों भारत पर चीन का आक्रमण हुआ था उन दिनों बहुत-सी जोशीली पंक्तियां लिखी गयी थीं जो सुननेवालों के अंदर एक क्षणिक

आवेश पैदा करने में, कुछ समय के लिये मरे हुओं में भी प्राण फूंकने में सफल होती थीं। परंतु उन्हीं पंक्तियों को उस वातावरण से हटाकर देखा जाये तो उनमें बहुत जान नहीं मालूम पड़ती। जैसे :

"सागर गरजे, धरती कम्पे, पर्वत बोले रे।
वज्र फेंकता बढ़ा सिपाही जय जय बोले रे,
प्रेम-क्षीर में वैर-गरल ला किसने घोले रे,
सागर गरजे, धरती कम्पे, पर्वत डोले रे।"

अथवा

"हिंस्र नेत्र फोड़ दो, कि पातकी टिके नहीं।
बढ़े कदम रुके नहीं, तनी ध्वजा झुके नहीं॥"

या इसी तरह "ऐ मेरे वतन के लोगो, जरा आंख में भर लो पानी" आदि पंक्तियां अपने समय पर बड़ा अच्छा काम कर गयीं, पर वे सचमुच कविता तो नहीं कहला सकतीं। वे अधिक-से-अधिक हमारे प्राण तक ही पहुंच पाती हैं और उनका कोई स्थायी मूल्य नहीं हो सकता।

सच्ची कविता तो प्रतिभा से उत्पन्न होती है। कई आचार्यों का मत है कि प्रतिभा शिव का तीसरा नेत्र है।

श्रीअरविन्द का कहना है कि सच्ची कविता हमेशा चेतना के किसी सूक्ष्म स्तर से आया करती है। सर्जनात्मक प्राण उसका वाहक है और हमारा बाह्य मन उसको व्यक्त करने का उपकरण। काव्य-सृजन में तीन मुख्य तत्त्व होते हैं : (१) प्रेरणा का असली स्रोत, (२) सौंदर्य की सृजनात्मक प्राण-शक्ति जो काव्य को वस्तु और छंद देती है, (३) उसे व्यक्त करनेवाली बाह्य चेतना या मन। जब प्राण-शक्ति बहुत बलवान् होती है तो वह प्रेरणा को अपने रंग में रंग लेती है और कविता में एक तूफानी वेग आ जाता है जिसके कारण कविता में शक्ति तो होती है, परंतु असली तत्त्व निम्नकोटि का रह जाता है। इसी प्रकार यदि बाह्य चेतना

ज्यादा सबल होकर प्रेरणा पर अपने कानून-कायदे लगाने लगे अथवा अपने प्रमाद के कारण प्रेरणा का ठीक उपकरण न बने तो कविता एकदम असफल हो जाती है। सबसे अच्छी कविता तब होती है जब कवि का प्राण और उसकी बाह्य चेतना बिना किसी ननुनच के प्रेरणा का वहन करें और उसपर किसी तरह भी अपना रंग चढ़ाने की कोशिश न करें। ऐसी कविता बड़े कवि भी विरले क्षणों में ही लिख पाते हैं।

मंत्र इससे भी ऊपर का काव्य है। उसकी प्रेरणा मन से ऊपर के अधिमानस से आती है। उसकी भाषा बहुत अधिक गंभीर और सारगर्भित होती है। उसका अर्थ उसके वाहक शब्दों की अपेक्षा बहुत अधिक विस्तृत और गंभीर होता है। उसके लय तथा छंद में शब्दों से भी अधिक शक्ति होती है। उसका मूल चेतना के किसी ऐसे स्तर में होता है जो हमारी ऊपरी चेतना को पीछे से सहारा दिये रहती है। परंतु इतनी ऊंचाई पर पहुंचना बहुत ही असाधारण बात है, क्योंकि इसके लिये जरूरी है कि मनुष्य, या कम-से-कम उसकी चेतना का कोई भाग, साधारण मन की उड़ान से बहुत ऊंचा उड़ सके।

कुछ आधुनिक कवियों में अंतरात्मा से आती हुई प्रेरणा दिखायी देती है, कुछ में विस्तृत मन और विश्वात्मा का स्पर्श होता है, परंतु सच्ची कविता तो तब होगी जब आत्मा की ज्योति, आनंद, जीवन की विस्तृत प्राण-शक्ति और बहुलता एक साथ हों। धरती और आकाश के तत्त्व मिलकर काव्य का उच्चारण करें। श्रीअरविन्द का कहना है कि संभवतः पूर्व में और पूर्व की ही किसी भाषा में सबसे पहले यह पूर्णता प्रकट होगी, क्योंकि स्वभावतः पूर्ववाले आत्मा और अंतरात्मा की दृष्टि के अधिक निकट रहे हैं। यह दृष्टि यदि अपनी अस्वाभाविक सीमाओं में न रहकर मानव जीवन के समस्त क्षेत्र को प्रकाशित कर सके तो हमें सचमुच आदर्श कविता मिल सकेगी।

इसके विपरीत, पश्चिमवाले अभी इस दिशा में उठ ही रहे हैं, लेकिन इस समय उनके विचार में विशालता और विस्तार अधिक हैं, बहिर्मुख होते हुए भी 'सत्य' की खोज के लिये प्रयत्नशील हैं और वे अपनी पूरी शक्ति लगाकर उसे पाना चाहते हैं। यदि वे एक बार ठीक रास्ते पर आ जायें तो

उनका काम काफी सरल होगा, क्योंकि वे प्राचीन परिपाटियों से घिरे हुए नहीं हैं। उनकी अभिव्यक्ति में ज्यादा आजादी होगी।

श्रीअरविन्द के शब्दों में :

"पूर्व और पश्चिम की मनोवृत्तियों की टक्कर हो रही है जिसमें एक ओर विशाल आध्यात्मिक मन और अंदर की आंखें हैं, जो आत्मा और शाश्वत 'सत्य' को देखती हैं, और दूसरी ओर विचार की स्वाधीनतापूर्वक खोज, धरती पर व्यापक समस्याओं के साथ टक्कर लेनेवाली हिम्मत और साहस हैं। इस टक्कर से ही भविष्य की कविता पैदा होगी। मनुष्य, और केवल मनुष्य ही नहीं, सारी प्रकृति में व्याप्त जीवन को अंतर्दृष्टि से देख, सुन और समझकर, मनुष्य और इस विशाल जगत् के सच्चे 'स्व' को पहचानने और उसके केवल बाहरी नहीं, बल्कि उसकी गहराइयों से 'सत्य' को जानकर मनुष्य और जगत् की संभावनाओं के अंदर भगवान् की वास्तविकता के दर्शन करने का प्रयास हो रहा है। हम सब जाने-अनजाने इसी दिशा में चल रहे हैं। भविष्य की कविता इस 'सत्य' को व्यक्त करने के लिये प्रेरणादायक सुंदर कलात्मक रूप और उसके अनुरूप भाषा देगी।"

श्रीअरविन्द का महान् काव्य 'सावित्री' इस दिशा में पथ-प्रदर्शन करता है। सारा विश्व ही 'सावित्री' का फलक है। सावित्री का जीवन एक अमर आत्मा की यात्रा है जो मर्त्य लोक की पुकार सुनकर धरती पर प्रकट हुई ताकि उसकी अपूर्णताओं को पूर्ण करे। सत्यवान् मनुष्य के भाग्य को लेकर चलता है। दृश्य और अदृश्य जगत् की सारी कठिनाइयां उसके मार्ग में बाधा डालती हैं। भागवत करुणा की शक्ति मानव शरीर धारण करके सवित्री के रूप में प्रकट होती है और मानव जीवन के प्रत्येक पहलू को छूती हुई, हर अंधेरे कोने को आलोकित करती हुई ऊपर उठती है। मार्ग में उसे अनेक लोकों की यात्रा करनी पड़ती है जिनसे हम अभीतक अपरिचित हैं। इनसे होती हुई वह ऊंचे-से-ऊंचे शिखरों पर जा पहुंचती है। हम कह सकते हैं 'सावित्री' मनुष्य के वर्तमान और उसकी भावी संभावनाओं और उसके जीवन के लक्ष्य का अद्भुत भाषा में चित्रण है। 'सावित्री' मानव

जीवन को आशा का संदेश देती है और उसके आरोहण में उसका पथ-प्रदर्शन करती है। 'सावित्री' में जिन क्षेत्रों का चित्रण किया गया है उन्हें सामान्य मनुष्य अपनी साधारण दृष्टि से नहीं देख पाता। उसे भली-भांति समझने के लिये आधुनिक विज्ञान और प्राचीन आध्यात्मिक परिचय सहायक हो सकता है। परंतु एक बार सच्चे दिल से प्रयास किया जाये तो 'सावित्री' अपने रहस्य खोलने लगती है और पाठक को निहाल कर देती है। 'सावित्री' उस महान् स्थापत्य की न्याईं है जिसमें हर छोटी-से-छोटी चीज महत्त्वपूर्ण है, जिसमें सौंदर्य पूर्ण रूप से मूर्तिमान हो उठता है।

लेकिन 'सावित्री' को सामान्य पुस्तक की तरह पढ़ जानेवाले उससे भली-भांति परिचय नहीं पा सकते। उसके लिये कुछ प्रयास करना होता है। माताजी ने कहा है कि 'सावित्री' पढ़ने का सबसे अच्छा ढंग यह है कि आदमी शांत मन से कुछ अंश पढ़े और फिर कुछ देर चुपचाप बैठा रहे—इसमें समझने का प्रयास भी न हो। कुछ काल तक इस तरह नियमित रूप से पढ़ने से 'सावित्री' अपने-आप समझ में आने लगती है। हां, पूरी तरह समझने के लिये तो पूरी अनुभूति आवश्यक है जो अभी दूर की चीज है।

'सावित्री' तो महाकाव्य है। उसके अतिरिक्त, श्रीअरविन्द ने बहुत-सी छोटी-बड़ी कविताएं लिखी हैं जिनका परिचय देने के लिये यहां स्थान नहीं है। फिर भी नीरज द्वारा अनूदित दो छोटी-छोटी कविताओं का रसास्वादन शायद अप्रासंगिक न हो।

वृक्ष और आत्मा

स्वर्गानुरक्त, सैकत-तट पर तरु खड़ा एक
नभ और भुजाओं-सी शाखाएं फैलाता।
हो विफल किंतु जड़ धरती के आकर्षण से
ऊपर न मृत्तिका की माया से उठ पाता।
यह है आत्मा, मानवस्वरूप जिसकी शाश्वत स्वर्गिक उड़ान को
हैं नीचे रोके हुए खड़े, रजपाश-बद्ध मन, देह, प्राण।

विजय-गीत

मैं न मरूंगा।
जब आत्मा इस मर्त्य गेह से थक जायेगी,
और चिता की लपटों का भोजन होगा तन,
पर तब तो यह भवन जलेगा, किंतु नहीं मैं!
उस पिंजड़े को छोड़ मिलेगा मुझे विशाल व्योम का कोना,
क्रूर मरण के आलिंगन को धोखा देकर मेरी आत्मा
दूर, बहुत हो जायेगी भूखी कब्रों से।
रात्रि सूर्य को अपनी ठंडी गहराइयों में छिपा रखेगी,
निश्चय होगा अंत काल का,
नित्य परिश्रम करनेवाले तारों को भी मुक्ति मिलेगी,
लेकिन अंत न मेरा होगा,
अंतहीन मैं सदा रहा हूं।
सदा रहूंगा!
प्रथम सृष्टि का बीज गिरा था जब धरती पर,
उससे भी पहले जीकर मैं वृद्ध हुआ था,
और कि अब जब ठंडे हो जायेंगे सब नक्षत्र अजन्मे,
तब भी मेरी कथा चलेगी सृष्टि-पृष्ठ पर!
मैं हूं तारों का प्रकाश,
सिंहों का बल,
सुख ऊषाओं का,
मैं हूं पुरुष, प्रकृति औ' बालक,
मैं असीम हूं, मैं अनादि हूं, मैं अनंत हूं!
एक वृक्ष में
जो एकाकी खड़ा हुआ इस महाकाश में,
तुहिन बिंदु-सा मौन पात में,
मैं अपार सागर जीवन का!

आकाशों को हाथ उठाये,
सृष्टि-प्राण धरती का मैं पालन करता हूं,
एक चिरंतन चिंतक था मैं जन्म-समय भी
और रहूंगा...
मैं असीम हूं, मैं अनंत हूं।

१०

श्रीअरविन्द का योग

भारत में चिरकाल से लोग योग-साधना करते आये हैं। परंतु श्रीअरविन्द का योग उन योग-पद्धतियों से कई बातों में अलग है। श्रीअरविन्द प्राचीन प्राप्तियों का विरोध नहीं करते, उनका विरोध कोई कर ही कैसे सकता है। हां, वे हर प्राचीन बात से चिपके रहने के विरोधी हैं। वे यह नहीं चाहते कि प्राचीन चीज को ही चरम लक्ष्य माना जाये। सृष्टि में विकास हो रहा है, अध्यात्म-मार्ग ही क्यों पीछे ताकता रहे ? हमारे योग का लक्ष्य भी आगे बढ़ता जाता है। श्रीअरविन्द कहते हैं कि हमारी सारी सत्ता को, हमारे मन, प्राण, शरीर तक को अपनी सारी शक्ति इस बात पर केंद्रित करनी चाहिये कि हम भगवान् के काम के लिये योग्य बन सकें। हमारा मन अंधेरे में टटोलनेवाला अस्त-व्यस्त राहगीर न रहकर, अपने से ऊपर की शक्ति का वाहक बने; हमारा प्राण आज की तरह तुच्छ, स्वार्थी, आवेशों और इच्छाओं का भंडार न होकर, शांत, सुस्थिर ऊर्जा को लानेवाला बने, यह शरीर भी आज की तरह मिट्टी का लौंदा न रहकर, भगवान् का सचेतन और प्रकाशमय सेवक बन सके।

श्रीअरविन्द अपने योग-मार्ग के लिये कोई निश्चित क्रियाएं नहीं बताते। हर एक की साधना का अपना अलग मार्ग होगा। श्रीअरविन्द के अनुयायी का सारा जीवन ही योग होना चाहिये। उन्हें कुछ घंटे योग के लिये और कुछ घंटे भोग के लिये रखना स्वीकार नहीं है।

जो लोग योग-साधना करना चाहते हैं उनके लिये यहां कुछ शब्द उद्धृत किये जा रहे हैं। साधक किसी भी चीज को लेकर आरंभ कर सकता है। एक चीज से दूसरी का रास्ता अपने-आप खुलता जाता है और सच्ची पुकार होने पर भगवती माता हर एक की उंगली पकड़कर उसे लक्ष्य की ओर ले जाती है।

श्रीअरविन्द के शब्दों में :

दिल की सचाई—योग के लिये एक चीज अनिवार्य है—यह है दिल की सचाई।

जो भगवान् के दरवाजे खटखटाता है—फिर चाहे उसने अपने जीवन में कितनी ही भूलें की हों या ठोकरें खायी हों—उसके लिये भगवान् के द्वार हमेशा खुले रहते हैं।

शांत रहो, अपने-आपको दिव्य शक्ति की ओर खोलो और उससे प्रार्थना करो कि वह तुम्हारे अंदर अचंचलता और शांति स्थापित करे। तुम्हारी चेतना का विस्तार करे और तुम्हारे अंदर भगवान् की ज्योति और शक्ति ले आये।

जब सब कुछ ठीक-ठीक चल रहा है तब शांत रहना आसान है। तुम्हारी शांति, नीरवता और समता की परीक्षा तो तब होती है जब परिस्थितियां उल्टी हों।

अपने-आपको खोलना, इस योग में अपने-आपको भगवान् के प्रभाव के प्रति खोलना बहुत जरूरी है। यूं तो वह हर जगह मौजूद है, परंतु उसे देखने के लिये सचेतन होना जरूरी है, फिर उसे अपने अंदर लाना जरूरी है। इसके लिये अभीप्सा करो, प्रार्थना करो, भगवान् को अपने अंदर बुलाओ। तुम्हें जब जो तरीका अच्छा लगे उसका उपयोग करो। कभी अधीर न बनो। यह सारा काम एक दिन में नहीं हुआ करता।

आत्म-समर्पण—अपने-आपको पूरी तरह भगवान् के हाथों में सौंप दो, उनसे किसी प्रकार की मांग किये बिना, किसी बदले की चाह किये बिना उनके बन जाओ। समर्पण बहुत आसान नहीं है। यह धीरे-धीरे पूरा हो सकता है। इसके लिये भगवान् की कृपा और उनकी सहायता जरूरी है।

मांग और कामना एक ही चीज के दो रूप हैं। इन्हें अपना मत समझो, इनके आगे झुकना इनके वेग को बढ़ाता है। जब ये सिर उठाने लगें तो इन्हें भगवान् के हाथ में सौंपने की कोशिश करो, इनसे पिंड छुड़ाने का यही सबसे सरल उपाय है।

भोजन—भोजन के लिये आसक्ति बुरी है। उसे जीवन में बहुत अधिक महत्त्व न दो। किसी भोजन के अच्छे लगने या न लगने में कोई हर्ज नहीं है। हां, उसके लिये लार न टपकाओ, उसके मिलने से बहुत खुश और न मिलने से नाखुश न होओ। शरीर के लिये जितना खाना जरूरी है उतना खाओ, न कम, न ज्यादा। भोजन के लिये न तो लालसा हो, न घृणा। जो मिले उसे भगवान् की एक देन समझकर कृतज्ञता के साथ स्वीकार करो।

काम-वासना—काम-वासना या सेक्स को एक मोहक, किंतु भयंकर पाप के रूप में न देखो। यह तुम्हारी प्रकृति की एक भूल, एक गलत गति है। उसे पूरी तरह अस्वीकार करो, परंतु जबरदस्ती करने से काम न चलेगा। उसे अपने से बाहर की चीज समझो और अपने अंदर घुसने न दो। वह हठ करके घुसना चाहे तो भगवान् की शक्ति को बुलाओ। शांति, दृढ़ता और धैर्य के साथ भगवान् को बुलाओ। तुम्हारी विजय अवश्य होगी।

धन—सचमुच सारा धन भगवान् का है। आज वह जिनके हाथ में है उन्होंने उसे हड़प लिया है और वे उसका दुरुपयोग कर रहे हैं। साधक न तो धन के पीछे भागता है, न धन को पाप की जड़ मानकर उससे दूर भागता है। धन को भगवान् की एक शक्ति मानो और उसे भगवान् के हाथों में सौंपने की कोशिश करो। साधक को न तो पैसे के अभाव में दुःख होना चाहिये और न धन-वैभव से आसक्ति। जिनमें धन कमाने की क्षमता है उन्हें वैरागी की तरह उसका बहिष्कार न करना चाहिये, बल्कि अपने अहं का बहिष्कार करके बिना किसी ममता या संकोच के भगवान् के चरणों में चढ़ा देना चाहिये, भावना यही रहे : "तुम्हारी वस्तु तुम्हें ही अर्पित हो।"

कर्म—कर्म से मुंह न मोड़ो। काम शरीर के द्वारा की गयी भगवान् की सर्वोत्तम प्रार्थना है। हर काम को भगवान् का काम समझकर अधिक-से-अधिक शुद्ध भाव से करने की कोशिश करो। यह भाव बनाये रखने की कोशिश करो कि यह भगवान् का काम है और उन्हींकी शक्ति से, उन्हींकी

सहायता से पूरा होगा। जबतक यह भावना स्थिर न हो जाये तबतक काम के आरंभ में भगवान् को बुलाओ, उनसे सहायता मांगो और अंत में उन्हें धन्यवाद दो। इस तरह से गाड़ी चल पड़ेगी।

भगवान् की सहायता पाना बहुत सरल है। वे हमेशा सहायता करने के लिये तैयार रहते हैं, लेकिन हम लेने के लिये तैयार नहीं होते। श्रीअरविन्द ने कहा है :

"भगवान् क्या हैं ? एक शाश्वत वाटिका में, शाश्वत खेल खेलता हुआ एक शाश्वत बालक।"

वह बालक हमें भी बालक बनने में सहायता दे।

११

श्रीअरविन्द-दर्शन

मनुष्य आदिकाल से सत्य की खोज करता आया है। ऐसे अवसर आते रहे हैं जब मनुष्य ने यही माना है : *"यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्"*—यानी, जबतक जीना है सुख से जी लो, ऋण करके घृत पीते जाओ। परंतु इस सिद्धांत को कभी बहुत दिनों तक नहीं माना जा सकता। जिनके पास सब कुछ है, जो समृद्धि में लोटते हैं उनके सामने भी यही प्रश्न आ खड़ा होता है कि आखिर इस सबका उद्देश्य क्या है ? जो कुछ पाया जा सकता था, पा लिया, लेकिन अब ? सब कुछ होते हुए भी उन्हें किसी चीज की तलाश होती है जिसे वे स्वयं नहीं जानते।

पूर्व और पश्चिम, दोनों में ही मनुष्य ने अपने जीवन के उद्देश्य और उसकी सार्थकता जानने के लिये बड़े-बड़े प्रयास किये हैं। जितने जिज्ञासु उतने ही मार्ग, परंतु मोटे रूप में हम इन्हें दो विभागों में बांट सकते हैं। एक तो वह जो भगवान् को ही सब कुछ मानते हैं, "*ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या*" ही जिनका नारा है, इनकी दृष्टि में केवल ब्रह्म ही सत्य है और उससे भिन्न सब कुछ मिथ्या और स्वप्न। उनकी मान्यता है कि जैसे अंधकार में रस्सी को देखकर सांप का भ्रम होता है, उसी प्रकार हमें बुद्धिभ्रम के कारण यह संसार सत्य दिखायी देता है, पर सचमुच यह कुछ भी नहीं है। इस भ्रम से निकलना, सत्य में विलीन हो जाना ही हमारे जीवन का (यदि कोई जीवन है !) एकमात्र उद्देश्य है।

दूसरी ओर प्राचीन चार्वाक् अथवा आज के वैज्ञानिक हैं जो इंद्रियगम्य तथ्यों को ही स्वीकार करते हैं, उनकी दृष्टि में अतीन्द्रिय वस्तुओं का कोई अस्तित्व ही नहीं है और अगर कुछ है भी तो वह मिथ्या आभास-मात्र अथवा सन्निपात के रोगी का प्रलाप है। उनके लिये जड़-भौतिक तत्त्व ही जीवन का अथ और इति है। मन तथा चेतना के अन्य स्तर इसी जड़-तत्त्व की विभिन्न क्रियाएं और प्रतिक्रियाएं हैं।

इन दृष्टियों के परिणामस्वरूप भारत में जिन लोगों को वर्तमान से असंतोष था, जो किसी उच्चतर जीवन की चाह रखते थे, उन्होंने संसार से किनारा कर लिया और गुफाओं में या वनों में छिपकर चेतना के उच्चतर शिखरों पर चढ़ने लगे। दूसरी ओर, यूरोप के लोगों ने जीवन और धर्म को अलग-अलग कमरों में बंद कर दिया। उन्होंने यही माना कि भौतिक प्रगति करते-करते वे उस स्थिति तक जा पहुंचेंगे जहां हर एक की हर आवश्यकता पूरी हो सकेगी—लेकिन इसके बाद ? यह प्रश्न दिन-पर-दिन जटिल होता गया और होता जा रहा है और जहां भारत में विपन्नता और दारिद्र्य का राज्य हो गया वहां यूरोप और अमरीका में संपन्नता होते हुए भी मनुष्य ख-पुष्प की खोज में ऊबड़-खाबड़ मार्गों पर दौड़ने लगा और आज स्थिति यह है कि उसने इतने साधन जुटा लिये हैं कि किसी भी दिन कुछ थोड़े-से सिर-फिरे मिलकर इस धरती के गोले को एकदम नष्ट-भ्रष्ट कर सकते हैं—यह केवल जीवन को मानने का परिणाम है।

भारत के वैरागियों ने जीवन का बहिष्कार किया। समाधि में वे चाहे जितने ऊंचे उठे हों, पर सामान्य जीवन बिलकुल अपरिष्कृत और गंदला रह गया। भगवत्-प्राप्ति केवल गिने-चुने लोगों का उद्देश्य रह गयी, साधारण मनुष्य के लिये धर्म और नीति के कुछ नियम ही महत्त्व रखते थे। भारतीय वैराग्य-मार्ग और यूरोपीय जड़-पूजा एक-दूसरे के विरुद्ध खड़े हैं।

परंतु श्रीअरविन्द इन दोनों को परस्पर-विरोधी न मानकर एक-दूसरे का पूरक मानते हैं और उनका कहना है कि दोनों ही मार्ग—अन्य मार्गों की तरह—ऊपर से चाहे जितने विरोधी लगते हों, पर सचमुच एक ही लक्ष्य की ओर जा रहे हैं। उनका कहना है कि जब वेदांत यह घोषणा करता है कि यह सब ब्रह्म है—*"सर्वं खल्विदं ब्रह्म"*—तो उसका सीधा-सा मतलब है कि जो कुछ है सब ब्रह्म है, उससे भिन्न कुछ भी नहीं है। और यदि यह सब ब्रह्म है तो ब्रह्म के अंदर मिथ्या का प्रवेश ही कैसे हो सकता है ? इसके अनुसार तो यह भौतिक जगत् भी ब्रह्म का ही एक रूप है। उसीकी एक अभिव्यक्ति है।

श्रीअरविन्द के कथनानुसार भारतीय ज्ञानी चेतना की ऊंचाइयों पर चढ़ने

में इतना मस्त रहा कि उसने विस्तार की उपेक्षा कर दी। उसने चेतना के चढ़ते हुए सोपान को तो भली-भांति जाना, पर उच्चतम शिखरों से निम्नतम गहराइयों तक उतरनेवाली चेतना की अवहेलना कर दी; परंतु दोनों का ही समान महत्त्व है, दोनों ही समान रूप से सत्य हैं और दोनों का समान दर्शन ही हमें सत्य तक पहुंचा सकता है।

श्रीअरविन्द कहते हैं कि सारी सृष्टि एक ही चेतना का खेल है। एकदम जड़ और निश्चेतन प्रतीत होनेवाली चीजें भी उसी चेतना, उसी ऊर्जा की एक अभिव्यक्ति हैं। सारे संसार में एक ही चेतना फैली हुई है; उसीने अपने खेल के लिये भिन्न-भिन्न रूप धारण किये हैं। परात्पर सत्य में जो शक्ति है वही शक्ति रसातल में भी काम कर रही है। उनके अनुसार असत् भी चेतना का वह क्षेत्र है जिसके बारे में हमारी ऊंची-से-ऊंची उड़ान भी केवल "नेति-नेति" कह सकती है, जो "हद-बेहद दोनों से परे" है। हमारी अनुभूतियों की भाषा में उसके लिये कोई शब्द नहीं है।

श्रीअरविन्द का कहना है कि वैज्ञानिक की नास्तिकता भी भगवान् तक पहुंचने में उतनी ही सहायक है जितनी किसी वैरागी की आस्तिकता। आधुनिक विज्ञान में जो खोज की लगन है वह उसे इतनी दूर ले जा चुकी है कि आगे खोज को बंद करना या उसकी गति को धीमा करना असंभव है। आज का वैज्ञानिक अपने भौतिक साधनों के द्वारा यहांतक तो पहुंच चुका है कि जड़-तत्त्व अंतिम या अविभाज्य वस्तु नहीं है, वह अब विद्युदणु और उसके अंदर छिपी हुई अपार ऊर्जा के रहस्य जानने में लगा है। अब उसने स्वीकार किया है (यद्यपि अभी बिना ननुनच के नहीं) कि ज्ञान प्राप्त करने के उसके भौतिक साधनों के अतिरिक्त अन्य साधन भी हैं। आज हम अमरीका में बैठे हुए आदमी के साथ यहां से बातचीत कर सकते हैं और इसके लिये किसी तार या अन्य भौतिक साधन की जरूरत नहीं होती, तो क्या यह मानना कठिन है कि इससे भी एक कदम आगे बढ़ा जा सकता है और रेडियो अथवा टेलीविजन के यंत्रों के बिना भी, आंतर शक्ति के विकास से दूर की चीजों को देखा-सुना जा सकता है ? यह सब भौतिक से अति-भौतिक की ओर, स्थूल से सूक्ष्म की ओर गति के सूचक हैं।

यदि हम भगवान् को मानते हैं तो हमें यह भी मानना होगा कि यह सृष्टि भी उन्हींके अंदर से निकले हुए ताने-बाने का परिणाम है। इन चौदह भुवनों को जब उन्होंने अपने अंदर से ही पैदा किया है तो उनमें असत्य का सवाल ही कैसे उठता है? हां, जैसा हम पहले कह आये हैं, चेतना के विभिन्न स्तर हैं और हर स्तर अपने से ऊपरवाले तक पहुंचने के लिये और उसकी सहायता से अपने-आपको पूर्ण रूप से विकसित करने के लिये प्रयास कर रहा है। जड़-तत्त्व में से जीवन का विकास हुआ। पशु-योनि की प्रयोगशाला पर मन के परीक्षण किये गये और फिर मानव की बारी आयी। उसी भांति अब मानव चेतना में अतिमानस के परीक्षण हो रहे हैं और अब अतिमानस योनि का आगमन अवश्यंभावी है।

चेतना ने जब निश्चेतन जड़ का रूप धारण किया, ज्योति ने अंधकार का, जीवन ने मृत्यु का बाना पहना और ज्ञान अज्ञान बन गया तो निबिड़ अंधकार में से एक पुकार उठी। उसके उत्तर में उच्चतम चेतना की एक चिंगारी इस घने अंधकार में कूदी और धीरे-धीरे अंधकार को प्रकाश की ओर ले जाने की यात्रा शुरू हो गयी। परात्पर चेतना की शक्ति ने प्रेम का रूप धारण किया और वह भी अज्ञान, अंधकार, मृत्यु आदि के लोक में कूद पड़ा। प्रेम ने ही इस महान् यात्रा को संभव बनाया।

शुरू में निम्न चेतना एकदम बिखरी हुई-सी थी। उसमें से इष्ट की मूर्ति गढ़ना असंभव था। धीरे-धीरे चेतना के बिखरे तत्त्वों को इकट्ठा करके उनके अंदर प्राण अथवा जीवन जागा और उसके बाद मन की बारी आयी। अभीतक सब प्राणी जातिगत चेतना के आधीन काम करते थे, अब उनमें व्यक्तित्व आने लगा। सच्चा व्यक्तित्व अंतरात्मा के चारों ओर विकसित होता है, परंतु जबतक अंतरात्मा आगे न आये तबतक अहंकार ही मनुष्य के व्यक्तित्व का केंद्र रहता है। एक स्थिति में अहंकार प्रगति में सहायता करता है, परंतु आगे चलकर वही बाधा बन जाता है, क्योंकि वह सब कुछ अपने लिये चाहता है, वह ज्योति, ज्ञान और प्रेम के अवतरण में बाधक होने लगता है। वह सारी चेतना को अपनी छोटी-सी चारदीवारी में बंद रखने की कोशिश करता है।

लेकिन वास्तविक प्रगति के लिये यह आवश्यक है कि अंतरात्मा अधिकाधिक सामने आये, अर्थात्, जीवन में सक्रिय भाग ले और उसकी सारी गतिविधि का नेतृत्व करे और सारे व्यक्तित्व पर छा जाये। अंतरात्मा ऊंचाई से आती है, इसलिये स्वभावतः उसे ऊंची चीजों की ओर आकर्षण होता है। वह सत्य, शुभ और सुंदर की ओर आकर्षित होती है, परंतु इतना ही काफी नहीं है, क्योंकि आमूल परिवर्तन के लिये सत्य सद्वस्तु के साथ एकतानता आवश्यक है। वही एकतानता निचली प्रवृत्ति के अंदर वह परिवर्तन ला सकती है जिससे आधार लक्ष्य तक पहुंचने के लिये तैयार हो सके।

१२

श्रीअरविन्द और भारत

हम पहले देख आये हैं कि श्रीअरविन्द जमीन के टुकड़े को भारत नहीं मानते। उनकी दृष्टि में भारत मां एक देवी है और आज उसका मुख्य काम है प्राचीन आध्यात्मिक ज्ञान और अनुभूति को अपने पूरे वैभव के साथ प्राप्त करना, इसे आध्यात्मिक धारा से सींचकर नये दर्शन, साहित्य, कला, विज्ञान आदि को जन्म देना और भारतीयता के प्रकाश में आधुनिक समस्याओं को हल करना और एक आध्यात्मिक समाज की स्थापना करना।

स्वाधीन होने के बाद भारतीय लोगों ने भारतीयता की काफी हदतक उपेक्षा की है। हम अपनी समस्याओं का हल आधुनिक, अर्थात्, पाश्चात्य ढंग से करना चाहते हैं। चाहे शिक्षा की समस्या हो या स्वास्थ्य की, राजनीतिक प्रश्न हो या आर्थिक, हम हर चीज के लिये यही देखते हैं कि इस विषय में रूस ने, अमरीका ने तथा अन्य "उन्नत" कहे जानेवाले देशों ने क्या कहा और किया है। परंतु हम भूल जाते हैं कि भारत की समस्याओं का हल भारत ही कर सकता है। इतना ही नहीं, माताजी ने कहा है, भारत के अंदर सारे संसार की समस्याएं केंद्रित हो गयी हैं और उनके हल होने पर सारे संसार का भार हल्का हो जायेगा।

श्रीअरविन्द कहते हैं कि आध्यात्मिकता भारतीय मानस की चाबी है। अनंत की भावना उसके लिये अपनी चीज है। भारत ने शुरू से ही, अपने तर्क-प्रधान युग में भी और बढ़ते हुए अंधकार के समय भी, इस बात का ध्यान रखा था कि केवल बाहरी दृष्टि से, बाहरी समस्याओं को हल कर लेने से जीवन पूर्ण नहीं हो सकता। यह नहीं कहा जा सकता है कि भारत भौतिक शास्त्रों से अपरिचित था या बाह्य जीवन को संगठित करने में किसी से पीछे था। इन सब बातों में आगे होते हुए भी उसकी आंख इस तथ्य पर रही कि जो कुछ दिखायी देता है वही सत्य नहीं, उसके पीछे और उसके

ऊपर ऐसी बहुत-सी शक्तियां हैं जो अपने-आप छिपी रहकर बाह्य जगत् को चलाती हैं। उसने जाना था कि मनुष्य जैसा दीखता है उससे कहीं अधिक महान् है। संसार के विकास में मनुष्य ही आखिरी स्तर नहीं है, अभी उसे बहुत ऊपर जाना है। उसे यह विश्वास था कि मनुष्य अगर अपनी आंतरिक शक्तियों को, अपने संकल्प और ज्ञान को ठीक तरह काम में लाये तो उसके लिये कोई काम असंभव नहीं है। वह चाहे तो स्वयं भगवान् तक पहुंच सकता है, बल्कि उनके साथ एक हो सकता है। इस विश्वास ने उसे एक दृष्टि दी। उसकी कला, उसका धर्म, उसका आदर्श, सब इसी भित्ति पर खड़े हुए।

इतना ही नहीं, उसकी आध्यात्मिकता आसमान में नहीं लटक रही थी। जैसे हिमालय की एक चोटी के उठने के लिये विशाल आधार की जरूरत होती है उसी तरह यहां भी आध्यात्मिक ऊंचाई तक पहुंचने के लिये सुदृढ़ जीवन की जरूरत थी। हम प्राचीन भारत की प्राण-शक्ति को देखकर दंग रह जाते हैं। उसने जिस क्षेत्र में हाथ डाला उसे धन्य कर दिया। राजसत्ता, गणतंत्र, भौतिक विज्ञान, विधि-विधान, राजनीति, अर्थनीति, ललितकला—आप किसी भी क्षेत्र को ले लीजिये, कहीं भी दरिद्रता नहीं दिखायी देती। भारत ने हर जगह सैकड़ों हाथों से कमाया है और हजारों हाथों से दिया है। उसके साहित्य, कला, धर्म का झंडा सारे संसार में लहराता था।

श्रीअरविन्द का कहना है कि आजकल के वैज्ञानिक युग से पहले प्राचीन भारत की तुलना में किसी देश ने भौतिक विज्ञान में इतनी सफलता नहीं पायी थी। भारतीय गणित, ज्योतिष, रसायन, चिकित्सा, शल्य-चिकित्सा आदि अनेकानेक विषयों में हिंदुस्तान ने औरों का मार्ग-दर्शन किया है। गैलिलियो से बहुत पहले भारत में *"चला पृथ्वी स्थिरा भाति"*—पृथ्वी चलती है, परंतु स्थिर दिखायी देती है—कहा जा चुका था। तेरहवीं शताब्दी के आस-पास भारतीय भौतिकशास्त्र मानों सो गये।

श्रीअरविन्द कहते हैं कि हर देश की कुछ अपनी विशेषता होती है, जैसे प्राचीन रोम योद्धाओं, शासकों और राजनीतिज्ञों का देश था। इसी प्रकार प्राचीन भारत ऋषियों का देश रहा है। इस देश में हमेशा ऋषि ही सर्वोपरि

रहे हैं और वीर पुरुष उनसे एक कदम पीछे रहते थे। और यह परंपरा प्राचीन काल में ही समाप्त नहीं हो गयी; बुद्ध, महावीर आदि से लेकर शंकर, रामानुज, चैतन्य, नानक, कबीर, रामदास, तुकाराम, रामकृष्ण, विवेकानंद, दयानंद आदि और दूसरी ओर चंद्रगुप्त, चाणक्य, अशोक, खालसा आदि हमारे सामने आते हैं। यह सारा काम भी घास के पुतलों या निष्प्राण स्वप्नसेवियों के वश का नहीं है। जो धारा हमें रामायण और महाभारत में "दिखायी देती है" वही जीवन के हर क्षेत्र में बह रही थी।

हम प्राचीन भारत की महानता का रहस्य उसकी ऊपरी बातों को देखकर नहीं लगा सकते। उन्होंने अपनी शिक्षा को ब्रह्मचर्य की दृढ़ नींव पर खड़ा किया था। शरीर के अंदर जितनी शक्ति और ऊर्जा बचती उसे बुद्धि की सेवा में लगाया जाता था। इसीसे उनकी मेधा,—ग्रहणशक्ति, धी—बुद्धि की सूक्ष्मता, स्मरणशक्ति, और सृजनात्मक अन्वेषण-शक्ति का विकास होता था। अध्यापक का कर्तव्य था कि विद्यार्थी के अंदर से तमस् को निकाले, रजस् पर लगाम लगाये और सत्त्व को जगाये। ब्रह्मचर्य और सात्त्विक विकास ने ही भारत के मस्तिष्क का निर्माण किया और योग ने उसे पूर्णता प्रदान की।

लेकिन पिछली सदियों में भारत पूरी तरह तम में पड़ा रहा है। संसार के कम ही देश इस तरह तामसिक हुए होंगे और शायद ही किसी ने अपनी तामसिक वृत्ति को सुरक्षित रखने के लिये इतना प्रयास किया होगा। इसीलिये हमने हर चीज के लिये प्रमाण ढूंढने शुरू किये और बुढ़िया-पुराण तो शास्त्रों से भी ज्यादा प्रामाणिक हो गया। लेकिन आध्यात्मिक रस की धार नहीं सूखने पायी। भारत के जीवन में नये-नये सोते फूटते ही रहे जिन्होंने अपने तपोबल से भारत को प्राचीन यूनान, रोम, मिस्र आदि की तरह लुप्त हो जाने से बचाया।

भारत ने राजनीतिक स्वाधीनता पा ली है, परंतु हमारे दिमाग अब भी पराधीन हैं। आज हम पराधीनता की अवस्था से भी अधिक यूरोप पर निर्भर हैं। हमारी शिक्षा, हमारे विधि-विधान, यहांतक कि हमारा सोचने का ढंग भी विदेशियों का ऋणी है। हम अपने रीति-रिवाज को नहीं मानते, अंधविश्वास

की खिल्ली उड़ाते हैं। लेकिन इसका मतलब सिर्फ यही है : वेद और पुराण को छोड़कर यूरोप के विचारकों को—फिर चाहे वे मार्क्स हों या फ्रायड, कैन्ट हों या नीत्शे—पूजते हैं। आधुनिकता के नाम पर हर यूरोपीय वस्तु को गले से उतारने के लिये तैयार रहते हैं।

श्रीअरविन्द कहते हैं, यदि भारत को जीवित रहना है, यदि उसे अपना नियत काम पूरा करना है तो सबसे पहले भारतीय युवकों को चिंतन करना सीखना पड़ेगा। उन्हें हर विषय पर, हर दिशा में आजादी के साथ और सफल रीति से सोचना होगा और हर चीज की गहराई में पैठकर उसके हृदय तक पहुंचना होगा। हर प्रकार के पक्षपात, पूर्वाग्रह और वितंडावाद को छोड़कर सत्य के लिये आग्रह करना होगा। हमारे मस्तिष्क यूरोपियन बच्चों की तरह कपड़ों में लिपटे हुए न रहकर देवों की अबाध गतिवाले हों। हमारी बुद्धि केवल सूक्ष्म ही नहीं, बल्कि भारत के लिये स्वाभाविक दक्षता और अधिकारवाली हो और वह अपनी हीनता-ग्रंथि को काटकर अपने सच्चे मूल्य को जान सके। यदि वह पूरी तरह अपने बंधनों को न काट सके तो उसके बंधन श्रीकृष्ण के बंधन हों जिनकी सहायता से उन्होंने यमलार्जुन को उखाड़ फेंका था। हमें भी प्राचीन के अंधे अनुकरण और आधुनिकता के दंभपूर्ण हठ को तोड़ना होगा। प्राचीन भित्तियां टूट चुकी हैं और हम परिवर्तन और उथल-पुथल की बाढ़ में बहे जा रहे हैं। इस समय न तो प्राचीन बरफ की सिलें पकड़ने से काम चलेगा और न यूरोप की दलदल में जा उतरने से। हमें तैरना सीखना होगा और तैरकर शाश्वत सत्य के जहाज को पकड़ना होगा, हमें फिर से सत्य की चट्टान पर खड़े होना होगा। और सावधान ! इधर-उधर से भारत और यूरोप की चीजों को बिना सोचे-समझे इकट्ठा कर देने से भी काम न चलेगा। यह पूर्व और पश्चिम का सामंजस्य नहीं, खिचड़ी होगी। यदि हम सचमुच सोचना शुरू करें तो भारतीयता को किसी प्रकार का खतरा न रहेगा।

श्रीअरविन्द कहते हैं कि हमारी शिक्षा-पद्धति के कारण हमारे विशाल मन, चरित्र, दृष्टि, स्वाभाविक शक्ति के स्थान पर भद्दे, भोंडे यूरोपीय जड़वाद तथा व्यापारी दृष्टि की प्रतिष्ठा हो गयी है। हमारी शिक्षा ने हमें प्राचीन बुद्धि

और आध्यात्मिकता से दूर कर दिया है। आज सबसे अधिक आवश्यकता है मौलिकता, अभीप्सा और शक्ति की। हमें अपने मानस को ऊंचा उठाना होगा, अपने स्वभाव के आभिजात्य और उदारता को फिर से लाना होगा, आर्य-दृष्टि से फिर से संसार को सुंदर और भव्य बनाना होगा।

हमारे आदर्श ऊंचे हैं और उनका चरितार्थ होना उतना ही निश्चित है जितना कल का सूर्योदय। ऊंचे आदर्श की ओर रेंगकर नहीं जाया जा सकता। उसके लिये हमें उड़ान लेनी होगी, अपनी बलि देनी होगी। भारत का उत्थान केवल भारत के लिये नहीं, समस्त संसार के लिये आवश्यक है। भारत सारे जगत् की समस्याओं को हल करने के लिये प्रयोगशाला है। आज चाहे जितना अंधकार हो, कल ज्योतिर्मय होगा। श्रीअरविन्द ने हमें विश्वास दिलाया है कि भारतीय संस्कृति ऐसी कच्ची नहीं है कि उसे नष्ट किया जा सके। वह हजारों वर्षों से आघात सहती आ रही है और फिर भी दुर्बल नहीं है। उसका भविष्य निश्चित रूप से उज्ज्वल है।

श्रीअरविन्द और मानव एकता

आजकल मानव समाज एक बड़ी अजीब स्थिति में है। एक ओर उज्ज्वल भविष्य दिखायी देता है, तो दूसरी ओर रसातल। आज उसे अपने भाग्य का फैसला अपने-आप करना है। उसे तय करना है कि वह उज्ज्वल भविष्य की ओर दौड़ेगा या रसातल में खो जायेगा। मनुष्य के मन और बुद्धि ने बाह्य जीवन का इतना बड़ा ढांचा बना लिया है कि अब उसे संभालना असंभव हो रहा है। उसकी राजनीति और अर्थनीति ऐसी भूल-भुलैया बन गयी है जिसमें से बाहर निकलने का कोई रास्ता नहीं दिखायी देता। विज्ञान—जो पहले उसका सेवक था—अब एक बृहदाकार दानव बन गया है जो उसीको खाने के लिये दौड़ रहा है। मनुष्य ने कला, आमोद-प्रमोद या कल-कारखाने, सभी क्षेत्रों में ऐसा कदम बढ़ाया है कि पीछे हटना असंभव है और अपनी वर्तमान क्षमताओं के बल पर आगे बढ़ना भी उसके बस की बात नहीं है। विज्ञान ने भौतिक जगत् पर काफी प्रभुता पा ली है और उसने संसार को इतना छोटा बना दिया है कि उसमें एकता लानी मुश्किल नहीं होनी चाहिये। लेकिन इस सारी शक्ति का उपयोग कौन करता है ? एक मामूली-सा मानव बौना, बौनों का सामूहिक अहंकार जिसके अंदर विश्व-चेतना का स्वप्न तक नहीं आता, जो ज्योति और शक्ति से अपरिचित है। इसलिये हम संसार में क्या देखते हैं ? मानसिक विचारों और आदर्शों की टक्करें, वैयक्तिक और सामूहिक इच्छाओं, आकांक्षाओं, क्षुधाओं की टक्करें और उनसे उत्पन्न कोलाहल। इसी कारण व्यक्ति-व्यक्ति में, श्रेणी-श्रेणी में और देश-देश में रगड़े-झगड़े हो रहे हैं। हर एक अपनी डफली पर अपना राग अलापता है, हर एक नये नारे लगाकर दुनिया की सभी व्याधियों को दूर कर सकने का दावा करता है और जिसके हाथ में थोड़ी शक्ति आ जाये वही सारे समाज पर अपने विचार लादने की कोशिश करता है। कोई गोली और फांसी के जोर से, कोई पैसे के जोर से और कोई नैतिक दबाव

से। परिणाम-स्वरूप स्थिति और भी बिगड़ जाती है, मरने-मारने की नौबत आती है, चारों ओर निराशा और जीवन की व्यर्थता के भाव फैल जाते हैं और कलह बढ़ता जाता है, केवल उसके रूप बदलते रहते हैं।

प्राचीन काल में मानव जीवन ज्यादा सरल था, इसलिये मनुष्यों ने आदर्शों, रीति-रिवाजों अथवा धर्म द्वारा अपने जीवन को एक चौखटे में जड़ दिया, विधि-निषेध की तालिकाएं तैयार कर लीं और भिन्न-भिन्न श्रेणियों के लिये भिन्न-भिन्न स्तर निश्चित कर दिये। परंतु समय आगे बढ़ता गया और पहले की सीमाएं टूटने लगीं। नये विचार, नयी धारणाएं, नयी क्षमताएं और नये तथ्य सामने आने लगे और उनमें आपस में क्रिया-प्रतिक्रिया होने लगी। इनको ठीक रखने के लिये, इनमें तालमेल बिठाने के लिये किसी उच्चतर व्यक्तित्व की जरूरत है जिसमें ज्ञान और शक्ति दोनों हों, जो इन सब तत्त्वों को अपने दोनों हाथों में लेकर यथास्थान बिठा सके। विज्ञान और बुद्धि हर चीज का विश्लेषण कर सकते हैं और एक कृत्रिम ढंग से उनका स्थान निश्चित कर सकते हैं, परंतु इनमें संश्लेषण करने की क्षमता नहीं है, वे वस्तुओं के सच्चे मूल्य से अनभिज्ञ हैं, अतः उनकी बनायी हुई रेत की दीवार टिक नहीं पाती। हां, इन सब प्रयासों का यह लाभ अवश्य होता है कि मनुष्य को अधिकाधिक यह अनुभव होने लगता है कि एक सच्ची एकता, सच्चे परस्पर सहयोग और आंतरिक सामंजस्य की जरूरत है। इतना ही नहीं, उसका अस्तित्व और भविष्य, दोनों इसी पर निर्भर हैं।

आज के समाज में व्यक्तिगत स्वाधीनता की दुहाई तो खूब दी जाती है, परंतु साथ-ही-साथ व्यक्तिगत स्वाधीनता नामक चीज धीरे-धीरे उड़ती जा रही है। प्रायः सभी जगह देश और राष्ट्र की भावना मजबूत होती जाती है और चारों ओर से यह मांग की जाती है कि व्यक्तिगत अहं अपने-आपको देश, जाति अथवा भावी संतति के अहं के लिये न्योछावर कर दे। हमें बताया जाता है कि राष्ट्रीयकरण ही हमारे हर प्रश्न का उत्तर दे सकता है—हां, उसके रूप अलग-अलग हो सकते हैं। आज आग्रह किया जाता है : धन, जन, बुद्धि, भावना, सब कुछ राज्य को अर्पित हों। कहीं यह आग्रह खुले रूप में होता है और इसका विरोध करने पर आदमी की जान जोखों

में पड़ जाती है, कहीं यही चीज दोशाले में लिपटे हुए जूते की तरह लगती है। ऊपर से देखने में पूरी स्वाधीनता होती है, पर सचमुच देश, व्यक्ति और जन-समाज की बागडोर कुछ इने-गिने पूंजीपतियों, मजदूर नेताओं, उद्योग-पतियों या इसी तरह के कुछ अन्य लोगों के हाथ में होती है। सिद्धांत के रूप में राज्य की प्रधानता का अर्थ है संगठित समाज के लिये व्यक्ति की बलि, यद्यपि उसे इन पैने शब्दों में न रखकर यों कहा जायेगा कि हर-एक से यह आशा की जाती है कि वह सबके भले में अपना भला समझे। परंतु क्रियात्मक रूप में क्या होता है ? एक सामूहिक अहंकार के आगे उसकी राजनीति, अर्थनीति, सामूहिक नीति, शिक्षानीति आदि के आगे हर-एक को सिर झुकाना होता है। शासकवर्ग (जिन्हें जनता का प्रतिनिधि मान लिया जाता है) कुछ आदर्श अपना लेता है और कुछ महत्त्वाकांक्षाओं को मूर्त रूप देना चाहता है और हर-एक को उसके आगे सिर झुकाना पड़ता है। कभी यह शासक-वर्ग गोली के जोर पर ऊपर आता है तो कभी अपनी वाक्पटुता और सम्मोहिनी वाणी के जोर पर। लेकिन एक बात तो है ही। आज के राजनीतिक पुरुष, चाहे वे किसी देश के क्यों न हों, किसी देश या जाति की आत्मा के प्रतीक नहीं होते। वे प्रायः देश की तुच्छ स्वार्थपरता, उसके अहंकार, आत्म-वंचना, अक्षमता, भीरुता, दंभ के अच्छे प्रतिनिधि होते हैं। उनके सामने बड़ी समस्याएं आती हैं, परंतु वे बड़े-बड़े शब्दों और महान् आदर्शों की दुहाई देते हुए भी समस्याओं का बड़ा समाधान नहीं कर पाते। बड़े आदर्श केवल राजनीतिक दलों का ढिंढोरा पीटने के काम आते हैं, जीवन की समस्याओं के साथ उनका संपर्क तक नहीं हो पाता। बुद्धिमान् और बुद्धिहीन, सभी इस शासक-वर्ग के हाथों में मामलों को सौंपने के लिये बाधित होते हैं। इसपर तुर्रा यह कि यह किसी वर्ग का भला नहीं कर पाता। वह गिरता-पड़ता, ठोकरें खाता आगे बढ़ने का प्रयास करता है। क्योंकि प्रकृति का नियम है कि वह मनुष्य की भूलों के बावजूद, उसकी ठोकरें खाती हुई अवस्था में भी, किसी-न-किसी तरह उसे आगे बढ़ाती है।

आजकल राज्य ने यह अनुभव करना शुरू किया है कि उसे समाज की शारीरिक आवश्यकताओं को पूरा करना चाहिये और इस दृष्टि से वह

व्यक्ति और समूह का भला करने की कोशिश भी कर रहा है। परंतु मुश्किल यह है कि मनुष्य को समाज और समूह की सहायता की आवश्यकता तो है, पर कुछ निश्चित सीमाओं में रहते हुए। राज्य एक मशीन है, वह सांचे में ढालकर एक जैसी चीजें बना सकता है, उसमें मौलिकता और विविधता, बोध और लालित्य के लिये स्थान नहीं होता। इसलिये वह व्यक्ति के विकास में बाधक होता है। सचमुच उसे शारीरिक आवश्यकताओं को पूरा करने के बाद व्यक्ति की स्वाधीनता पर हाथ न डालना चाहिये। शिक्षा का राष्ट्रीयकरण कैसे परिणाम ला सकता है, इसका कुछ आभास हमें मिल चुका है। मानवजाति की प्रकृति और उसकी नियति के अनुसार हर व्यक्ति को अपने ढंग से अपना मार्ग बनाते हुए पूर्णता की ओर बढ़ना है। जाति की सच्ची प्रगति के लिये यह आवश्यक है कि उसके व्यक्ति प्रगति करें। हमें यह न भूलना चाहिये कि हर व्यक्ति के अंदर आत्मा है और हर आत्मा में मानवजाति की संभावनाएं छिपी हुई हैं। कोई शासन-व्यवस्था, कोई सुधारक, कोई धर्म कतर-व्योंत करके, उसे नमूने के अनुसार पूर्ण नहीं बना सकता। किसी शास्त्र, संस्कृति, या राज्य-व्यवस्था को यह अधिकार नहीं है कि वह यह कहे : "तुम्हें मेरे बताये हुए इस मार्ग से और इस सीमा तक प्रगति करनी है।" ये बातें कभी उसके मार्ग में सहायता देती हैं और कभी बाधक होती हैं। मनुष्य इनका उपयोग करके या इन्हें लांघकर आगे बढ़ता जायेगा। आध्यात्मिक युग मनुष्य को मशीन में डालकर पूर्ण बनाने की कोशिश न करेगा और न उसके हाथ-पांव बांधकर उसे सीधा रखने की कोशिश करेगा। आध्यात्मिक युग में बाहरी नियंत्रण कम-से-कम होगा।

इसी प्रकार समानता और भ्रातृभाव की बात है। अभीतक जिस समानता के स्वप्न लिये गये हैं वह एक कृत्रिम और अस्वाभाविक-सी चीज है, भ्रातृभाव तो अभी आकाश-कुसुम ही बना हुआ है। लेकिन स्वाधीनता, समानता और भ्रातृभाव आत्मा के शाश्वत लक्षण हैं। श्रीअरविन्द कहते हैं कि जब आत्मा स्वाधीनता की मांग करती है तो वह आत्म-विकास की स्वाधीनता है। ऐसी स्वाधीनता, जिसमें मनुष्य के अंदर उसके सब स्तरों में

भगवान् पूरी तरह अभिव्यक्त हो सकें। जब वह समानता की मांग करती है तो वह चाहती है कि सबको इस तरह विकसित होने की आजादी हो. और सबके अंदर उसी एक परमात्मा की उपस्थिति को माना और जाना जाये और जब वह भ्रातृभाव की मांग करती है तो वह स्वाधीनता और आत्म-विकास को एक समान उद्देश्य, समान जीवन और मन की समानता की भित्ति पर खड़ा करती है। इसके पीछे यह ज्ञान काम करता है कि सबके अंदर एक ही आत्म-तत्त्व है। सच्चे मानव विकास के लिये एक गहरा भ्रातृभाव अनिवार्य है, परंतु यह भ्रातृभाव मन या भावनाओं या पारस्परिक सुख-सुविधा के आधार पर न होकर सच्चे प्रेम के आधार पर खड़ा होगा। इसकी जड़ें आत्मा की गहराइयों में हैं।

हम जिन्हें स्वाधीनता, समानता या भ्रातृभाव समझते हैं वे तो उनका आभासमात्र हैं। आज हमारे अंदर दासता, असमानता और द्वेष का राज्य है। जब ये चीजें अपने-आपसे उकता जाती हैं तो अपने ही केंद्र के चारों ओर कलाबाजियां करने लगती हैं और हम इन्हीं कलाबाजियों को एकता आदि के नाम दे देते हैं। लेकिन सच्ची एकता और समानता तो तभी आयेगी जब मनुष्य भगवान् को पा लेगा और उसे अपने जीवन में, अपने भौतिक तत्त्व में ला सकेगा। भगवान् प्रकट होने के लिये तैयार हैं, पर उनकी परवाह न करके मनुष्य उनकी मूर्तियां बनाते हैं जो सचमुच हमारे अहं की ही मूर्तियां हैं। हम उन्हींके चक्कर में फंसे रहते हैं, इसीलिये असफलता हमारे गले पड़ती है।

बाहरी दृष्टि से और पुराने अनुभव से भी यही लगता है कि संसार में एकता न आयी तो विनाश अवश्यंभावी है। इस दृष्टि से संसार के सामने दो विकल्प हैं। संयुक्त-राष्ट्र का रूप बदलकर एक जगत्-राज्य की स्थापना हो। वह दो तरह से हो सकता है : एक तो यह कि राष्ट्रों का अस्तित्व ही मिट जाये, सारा जगत् एक देश हो जो बहुत-से प्रदेशों और जिलों में बंटा हुआ हो; दूसरे यह कि हर देश अपने-अपने स्थान पर बना रहे और इन सबका मिलकर एक संघ-शासन हो जो सबको एक साथ लेकर चल सके। दोनों में अपनी-अपनी अच्छाइयां और अपनी-अपनी कमजोरियां हैं। हो

सकता है कि अध्यात्म-प्रधान मानवजाति किसी तीसरे ही रूप का आविष्कार करे। लेकिन एक बात जरूर है—विश्व-धर्म या मानव-धर्म भविष्य के लिये सबसे अधिक आशाप्रद वस्तु है। यहां धर्म से श्रीअरविन्द का मतलब किन्हीं विशेष रीति-रिवाजों, विधि-निषेधों या बाह्य क्रियाओं से नहीं है। अभीतक विश्व-धर्म बनने के लिये बहुत-से धर्म आगे आ चुके हैं, पर किसीको सफलता नहीं मिली, क्योंकि वे सब मन और बुद्धि के विश्वासों पर आधारित थे।

मानव-धर्म का अर्थ यह होगा कि मनुष्य इस बात को अनुभव कर सके कि सबके अंदर वही एक आत्मा है। वह आत्मा हर व्यक्ति को, हर वस्तु को अभिव्यक्ति की, विकास की पूरी-पूरी स्वाधीनता देती है। वह एकतानता की जगह, विविधता पसंद करती है। आत्मा की अभिव्यक्ति में अभीतक तो मनुष्य ही सबसे ऊंची सीढ़ी है और मनुष्य तथा मानवजाति का उपयोग करके ही वह संसार में पूरी तरह प्रकट होगी। इस प्रसंग में प्रगति का अर्थ होगा इस ज्ञान को अपने जीवन में उतारना और आत्मा को जीवन में प्रकट करने का प्रयत्न करना। इस आंतरिक विकास के कारण मनुष्य यह अनुभव कर पायेगा कि उसके अंदर भी वही आत्मा है जो उसके पड़ोसी में या उसके दुश्मन कहानेवाले व्यक्ति में है। एकता का यह ज्ञान सच्चा भ्रातृभाव लेकर आयेगा। इसके साथ जाति को भी इस चीज का अनुभव होना चाहिये कि उसकी पूर्णता और उसका स्थिर सुख व्यक्ति की स्वतंत्रता और पूर्णता पर निर्भर है।

अगर यह आदर्श मानवजाति में जल्दी चरितार्थ हो सके तो सभी समस्याएं आसान हो जायेंगी। जबतक यह न हो तबतक एकता के लिये किया गया हर प्रयास अपना मूल्य रखता है। अधिकाधिक लोग अगर इस बात का अनुभव कर सकें और उसे अपने जीवन में लाने का प्रयास करें तो एक दिन आयेगा जब मनुष्य यह जान लेगा कि ऊपरी लीपा-पोती से काम नहीं चलता और तब, 'सत्य' जीवन की बागडोर अपने हाथ में ले लेगा और फिर 'पूर्णता' एक स्वप्न न रह जायेगी।

१४

'श्रीअरविन्द सोसायटी' तथा ओरोवील

संसार के अधिकतर देशों में श्रीअरविन्द की शिक्षा में रस लेनेवाले लोग फैले हुए हैं और उनमें बहुत-से यथासाध्य श्रीअरविन्द के बताये हुए मार्ग पर चलने का प्रयास करते हैं। श्रीअरविन्द का मार्ग व्यक्तिगत मोक्ष के लिये तो है नहीं, वह समस्त जाति के अंदर आमूल परिवर्तन करने के स्वप्न लेता है। इसलिये यह आवश्यक मालूम हुआ कि इस काम में सक्रिय भाग लेनेवालों का एक संगठन हो जिसका प्रत्येक सदस्य अपने-अपने स्थान पर रहता हुआ अपने-अपने क्षेत्र में श्रीअरविन्द के बताये हुए मार्ग के अनुसार जीवन बिता सके तथा अपने काम को श्रीअरविन्द के प्रकाश में ऊंचा उठा सके। केवल इतना ही नहीं, ये लोग मिलकर सामूहिक रूप से उनके काम को आगे बढ़ाने का और उनके बताये हुए आदर्श समाज को लाने का प्रयास कर सकें। इस उद्देश्य को लेकर सन् १९६० में 'श्रीअरविन्द सोसायटी' की स्थापना की गयी। जीवन का कोई कोना श्रीअरविन्द ने अछूता नहीं छोड़ा है। इसी तरह मानव उत्थान का कोई काम 'सोसायटी' के क्षेत्र से बाहर नहीं है। हर-एक अपने रस और अपनी क्षमता के अनुसार इसमें काम कर सकता है। जो लोग श्रीअरविन्द के जीवन-दर्शन में रस रखते हैं उन सबका 'सोसायटी' स्वागत करती है। इसके अतिरिक्त श्रीअरविन्द ने जिस सामंजस्यपूर्ण समाज का चित्रण किया है उसे मूर्त रूप देने के लिये 'श्रीअरविन्द सोसायटी' ने पांडिचेरी के नजदीक 'ओरोवील' नामक एक अंतर्राष्ट्रीय नगर बसाने की योजना बनायी जिसका शिलान्यास २८ फरवरी, १९६८ को हुआ था। 'ओरोवील' का अर्थ है 'उषा नगरी'। उसकी योजना का परिचय देते हुए माताजी कहती हैं :

"ओरोवील एक ऐसा सार्वभौम नगर बनना चाहता है जहां सब देशों के नर-नारी शांति और बढ़ते हुए सामंजस्य के साथ रह सकें। वह मत-

मतांतर, राजनीति और राष्ट्रीयता से ऊपर होगा। ओरोवील का उद्देश्य है मानव एकता को सिद्ध करना।"

और यह एकता एकरूपता न होगी, वह विभिन्नताओं को एक लड़ी में पिरोये हुए होगी। ओरोवील में रहने की पहली शर्त है कि आपको समस्त मानवजाति की सारभूत एकता पर विश्वास हो और आप उसे मूर्तरूप देने के लिये प्रयत्न करने को तैयार हों। ओरोवील में पचास हजार की बस्ती के लिये व्यवस्था होगी जिनमें से बीस हजार आदर्श ग्रामों में रहेंगे और बाकी तीस हजार अंतर्राष्ट्रीय वाणिज्य-व्यापार आदि के क्षेत्रों में। ओरोवील के पूर्व में समुद्र हिलोरें ले रहा है और पश्चिम तथा उत्तर में झीलें हैं। नगर का मध्य भाग एक ऊंची उठी हुई जमीन पर होगा। इसमें काम करने के लिये भिन्न-भिन्न देशों के इंजीनियर और 'आरकिटेक्ट' आये हुए हैं।

इस नगर में जीवन की सभी आवश्यक बातों का ख्याल रखा गया है। उद्योग, कृषि, शिक्षा, सांस्कृतिक क्रिया-कलाप आदि के लिये अलग-अलग विभाग सुरक्षित हैं। हर व्यक्ति अपनी रुचि और क्षमता के अनुसार काम करेगा और उसके विशेष प्रशिक्षण की व्यवस्था भी रहेगी। वहांपर काम रोटी कमाने का अनिवार्य साधन नहीं होगा, बल्कि काम के द्वारा हर व्यक्ति अपनी आंतरिक क्षमताओं को खिलाने का अवसर पायेगा जिससे समाज की भी सेवा होती रहेगी। नगरी सबके योगक्षेम की व्यवस्था करेगी और हर-एक को उसके योग्य काम का अवसर देगी, इसलिये वहां बेकारी या भिखारी का स्थान न होगा। कोशिश यह की जायेगी कि हर व्यक्ति अपने जीवन को अंदर से नियंत्रित कर सके ताकि बाहरी विधि-निषेध की जरूरत ही न हो। संसार में व्यक्ति और समष्टि की स्वतंत्रता की रक्षा करते हुए संघजीवन का क्या रूप होगा—इस विषय में क्रियात्मक गवेषणा होगी और इस क्षेत्र में आनेवाली कठिनाइयों का हल निकालने का प्रयास किया जायेगा।

संसार के विभिन्न देशों और भारत के विभिन्न प्रदेशों का अपना-अपना मंडप होगा जिसमें उनके कलात्मक जीवन तथा उनकी सांस्कृतिक

विशेषताओं का प्रदर्शन होगा, संसार की एकता को नजर में रखते हुए एक विश्वविद्यालय की स्थापना होगी, विभिन्न चिकित्सा-पद्धतियों को बिना किसी पूर्वाग्रह के अपनी-अपनी विशेष दिशाओं में खोज करने का अवसर मिलेगा। हर व्यक्ति और हर समूह दूसरे को नीचा दिखाये बिना अपने-आप ऊपर उठने का अवसर पा सकेगा।

अगर संक्षेप में कहें तो ओरोवील श्रीअरविन्द के स्वप्नों के भावी दिव्य समाज को मूर्त रूप देने में पहला कदम होगा। जिन्हें इन बातों में संदेह हो वे श्रीअरविन्दाश्रम के आज से बीस वर्ष पहले के और आज के रूप को देखकर यह समझ सकते हैं कि ये शेख-चिल्ली के सपने-भर नहीं हैं। यदि विश्व को बचाना है, यदि मानव संस्कृति और मानव समाज को सृष्टि के पृष्ठ से मिट नहीं जाना है तो यह आवश्यक है कि ओरोवील में जो परीक्षण आरंभ हो रहा है वह सफल हो। श्रीअरविन्द इसका नेतृत्व कर रहे हैं, माताजी इसे मूर्त रूप दे रही हैं और विभिन्न राष्ट्र इसमें न्यूनाधिक रूप से रस ले रहे हैं। हम आशा करते हैं कि उज्ज्वल विश्व का यह तरु शीघ्र ही संसार के सामने एक नया जीवन-दर्शन और दर्शन ही नहीं, क्रियात्मक रूप रख सकेगा। माताजी ने कहा है :

"ओरोवील शांति, मैत्री, भ्रातृभाव और एकता की दिशा में प्रयास है। यह एक ऐसी जगह है जहां लोग केवल भविष्य के बारे में हो सोच सकेंगे। यह उन लोगों का स्थान होगा जो मानवता के वर्तमान से असंतुष्ट हैं और इससे ऊपर की सीढ़ी पर चढ़ने के इच्छुक हैं। लेकिन जो वर्तमान सांसारिक जीवन से संतुष्ट हैं उनके लिये ओरोवील कोई अर्थ नहीं रखता।"

ओरोवील के अधिकार-पत्र में श्रीमाताजी ने कहा है :

"ओरोवील किसी व्यक्ति विशेष का नहीं है। ओरोवील सारी मानवजाति का है। लेकिन ओरोवील में रहने के लिये दिव्य 'चेतना' का उद्यत और तत्पर सेवक होना जरूरी है।

"ओरोवील एक अनंत शिक्षा का स्थान होगा, चिर प्रगति और ऐसे यौवन का स्थान होगा जो कभी बूढ़ा नहीं होता।

"ओरोवील भूत और भविष्य के बीच एक पुल होना चाहता है। बाह्य

और आंतरिक खोजों का पूरा लाभ उठाते हुए, ओरोवील भावी साक्षात्कार की ओर निर्भीक होकर दौड़ेगा।

"ओरोवील वास्तविक मानव एकता के लिये भौतिक और आध्यात्मिक खोज करने का स्थान होगा।"

माताजी ने और एक जगह कहा है :

"ओरोवील अपने पैरों पर खड़ा होगा। वहां रहनेवाले सब लोग उसके जीवन और विकास में भाग लेंगे; कोई सक्रिय और कोई निष्क्रिय रूप से भाग लेगा। नगर में कोई कर नहीं लगाये जायेंगे, लेकिन वहां का हर व्यक्ति धन, सामान या श्रम देकर काम में हाथ बंटायेगा। वहां के उद्योग आदि विभाग अपनी आमदनी का कुछ भाग नगर के विकास के लिये देंगे। और यदि वे ऐसी चीजें तैयार करें जिनकी वहां के नागरिकों को जरूरत हो (जैसे खाद्य पदार्थ) तो वे नगर को अपनी चीजें देंगे, क्योंकि नगर सबको खिलानेके लिये उत्तरदायी होगा।"

ओरोवील के लिये कोई विधि-विधान नहीं बनाये जा रहे। जैसे-जैसे नगर के पीछे जो सत्य छिपा है वह अभिव्यक्त होगा वैसे-वैसे आवश्यक बातें होती जायेंगी। हम पहले से ही निश्चय नहीं करते।

काम असंभव-सा प्रतीत होता है, पग-पग पर ठोकरें लगती हैं और विघ्न-बाधाओं की चट्टानें खड़ी दिखायी देती हैं। यहांपर मानव प्रकृति को बदलने के दुःसाहसपूर्ण काम को हाथ में लिया गया है। जिन्होंने थोड़े-बहुत संयम के लिये, वाणी के, क्रोध के, जिह्वा के संयम के लिये प्रयास किया है, वे जानते हैं कि यह कितना कठिन काम है। फिर ओरोवील में तो नाना प्रकार की विभिन्न प्रकृतियों, एक-दूसरे के विरोधी स्वभावों को लेकर उनमें सामंजस्य लाना है। संक्षेप में कहें तो सारे संसार की एकता के लिये ओरोवील की कुठाली में परीक्षण हो रहा है। एक बात निश्चित है। आज कठिनाइयां चाहे जितनी भयंकर दीखती हों, वे विलीन अवश्य होंगी। मानवजाति की नियति में विनष्ट होना नहीं लिखा इसलिये माताजी और श्रीअरविन्द की विजय अवश्य होगी।

१५

श्रीअरविन्दवाणी

भगवान् क्या हैं ? एक शाश्वत वाटिका में शाश्वत खेल खेलता हुआ शाश्वत बालक।

*

उत्तर भारत के चरवाहे को यदि ज्वर हो जाये तो वह नदी की बर्फीली धारा में एक-दो घंटे बैठ जाता है और स्वस्थ और ताजा होकर उठता है। यदि कोई पढ़ा-लिखा सभ्य व्यक्ति ऐसा करे तो वह मर जायेगा, इसलिये नहीं कि एक ही इलाज एक को मार देता है और दूसरे को ठीक कर देता है, किंतु इसलिये कि हमारे मन ने हमारे शरीरों को झूठे अभ्यासों से जकड़कर घातक सिद्धांतों का शिकार बना दिया है।

*

औषधि रोग को उतना ठीक नहीं करती जितना कि रोगी का डॉक्टर या उसकी औषधि में विश्वास। ये दोनों रोगी की अपनी शक्ति में स्वाभाविक श्रद्धा के भद्दे स्थानापन्न हैं, उस शक्ति के जिसे स्वयं इन्होंने नष्ट कर दिया है।

*

यहूदी ने ईश्वर से डरनेवाले व्यक्ति का आविष्कार किया; और भारतवर्ष ने भगवान् के ज्ञाता और भगवान् के प्रेमी का।

*

भगवान् से डरने का अर्थ है अपने-आपको उनसे दूर ले जाना, किंतु

खेल-खेल में उनसे डरना आनंद को अधिक तीव्र बना देता है।

*

पूर्ण प्रेम भय को भगा देता है; किंतु फिर भी उस निर्वासन की कुछ कोमल परछाईं और स्मृति बनाये रखो, वह पूर्णता को पूर्णतर बना देगी।

*

हे प्रभु, तेरे प्रेमी के लिये संसार की निंदा वन का मधु है और भीड़ द्वारा बरसाये पत्थर शरीर पर पड़नेवाली ग्रीष्म ऋतु की वर्षा की फुहार हैं। यह सब क्या आप ही नहीं कर रहे हैं, मुझपर बरसनेवाले और मुझे चोट पहुंचानेवाले पत्थरों में भी क्या आप ही विद्यमान नहीं हैं ?

*

संसार को अलग रखकर भगवान् के साथ प्रेम करना उनकी तीव्र किंतु अपूर्ण आराधना है।

*

क्या तुम नास्तिक से इसलिये घृणा करते हो क्योंकि वह भगवान् से प्रेम नहीं करता ? तो क्या तुमसे भी घृणा की जाये क्योंकि तुम भी भगवान् के साथ पूरा-पूरा प्रेम नहीं करते ?

*

जो भगवान् हंस नहीं सकता वह इस हास्यजनक विश्व का निर्माण भी न कर पाता।

*

यह संसार बदलकर स्वर्ग की प्रतिमूर्ति कब बनेगा ? जब समस्त मानवजाति बालक और बालिकाएं बन जायेगी और उनके साथ-साथ स्वयं

भगवान् भी कृष्ण और काली के रूप में प्रकट होंगे, जो उस दल के सबसे अधिक प्रसन्न बालक और सबसे अधिक शक्तिशाली बालिका होंगे और स्वर्ग के बगीचे में एक संग खेलेंगे। सामी अदन (सेमेटिक ईडन) काफी अच्छा था, पर आदम और हौवा इतनी बड़ी उम्र के थे और स्वयं उनके भगवान् भी इतने अधिक वृद्ध और कठोर और गंभीर थे कि सर्प के प्रस्ताव का प्रतिरोध न कर सके।

*

सबसे महान् आनंद है नारद की तरह भगवान् का दास बन जाना; सबसे जघन्य नरक है भगवान् से परित्यक्त होकर संसार का मालिक बनना। जो चीज भगवान्-विषयक अज्ञानपूर्ण परिकल्पना के लिये सबसे अधिक समीप प्रतीत होती है वही उनसे सबसे अधिक दूर होती है।

*

ऐ दुर्बलता में फंसे मूर्ख ! भय के पर्दे के द्वारा भगवान् का मुख अपने-आपसे मत छिपा, अनुनयशील दुर्बलता के साथ उनके समीप न जा। देख ! तू उनके चेहरे पर शासक और विचारक की गंभीरता नहीं, बल्कि प्रेमी की मुस्कान देखेगा।

*

मनुष्यों से प्यार कर और उनकी सेवा कर, पर सावधान, कहीं तू प्रशंसा की कामना न कर बैठे। उसकी जगह अपने अंदर विराजमान भगवान् की आज्ञा का पालन कर।

*

संसार का अधिपति बन जाने में निश्चय ही चरम आनंद होगा लेकिन तभी जब सारे संसार का प्रेम प्राप्त हो; परंतु उसके लिये तो साथ-ही-साथ सारी मनुष्यजाति का गुलाम भी बनना पड़ेगा।

भविष्य के लिये प्रार्थना

मानवजाति की वर्तमान स्थिति से हम सब परिचित हैं। काली घटायें बढ़ती जा रही हैं, मानव प्रयास असफलता-पर-असफलता पा रहे हैं। लेकिन इन सबके बावजूद, माताजी और श्रीअरविन्द ने हमें विश्वास दिलाया है कि हम एक नये युग की देहली पर खड़े हैं, कि नयी शक्ति धरती पर उतर चुकी है और बड़ी तेजी से काम में लगी है। हमें पूरी सचाई के साथ भगवान् को पुकारना चाहिये और वे आकर स्थिति को संभाल लेंगे। सच्ची श्रद्धा के सिवा कोई चीज हमें पार न लगा सकेगी।

इस कार्य में सहायता देने के लिये हम माताजी की लिखी हुई दो-एक प्रार्थनाएं हृदयंगम कर सकते हैं।

Glory to Thee, O Lord, who triumphest over every obstacle.

Grant that nothing in us shall be an obstacle in Thy work.

Grant that nothing may retard Thy manifestation.

Grant that Thy will may be done in all things and at every moment.

We stand here before Thee that Thy will may be fulfilled in us, in every element, in every activity of our being, from our supreme heights to the smallest cells of the body.

Grant that we may be faithful to Thee utterly and for ever.

We would be completely under Thy influence to the exclusion of every other.

Grant that we may never forget to own towards Thee a deep, an intense gratitude.

Grant that we may never squander any of the marvellous things that are Thy gifts to us at every instant.

Grant that everything in us may collaborate in Thy work and all be ready for thy realisation.

Glory to Thee, O Lord, Supreme Master of all realisation.

Give us a faith active and ardent, absolute and unshakable in Thy Victory.

हे प्रभो, हे सर्वविघ्नविनाशक, तेरी जय हो।

वर दे कि हमारे अंदर की कोई भी चीज तेरे कार्य में बाधक न हो।

वर दे कि कोई भी चीज तेरी अभिव्यक्ति में रुकावट न डाले।

वर दे कि सभी बातों में तथा प्रत्येक क्षण तेरी ही इच्छा पूर्ण हो।

हम तेरे सम्मुख उपस्थित हैं ताकि हमारे अंदर, हमारी सत्ता के अंग-प्रत्यंग में, उसके प्रत्येक कार्य में, उसकी सर्वोच्च ऊंचाइयों से लेकर शरीर के क्षुद्रतम कोषों तक में तेरी ही इच्छा कार्यान्वित हो।

ऐसी कृपा कर कि हम तेरे प्रति संपूर्ण रूप से तथा सदा के लिये विश्वासपात्र बन सकें।

हम अन्य प्रत्येक प्रभाव से अलग रहते हुए एकदम तेरे प्रभाव के अधीन हो जाना चाहते हैं।

वर दे कि हम तेरे प्रति एक गभीर और तीव्र कृतज्ञता रखना कभी न भूलें।

कृपा कर कि प्रत्येक क्षण हमें जो अद्‌भुत वस्तुएं तेरी देन के रूप में मिलती हैं, हम उनमें से किसी का कभी अपव्यय न करें।

वर दे कि हमारे अंदर की प्रत्येक चीज तेरे कार्य में सहयोग दे और सब कुछ तेरी सिद्धि के लिये तैयार हो जाये।

हमें अपनी विजय में सक्रिय और ज्वलंत, अखंड और अचल-अटल विश्वास प्रदान कर।

*

Supreme Lord, Eternal Truth. Let us obey Thee alone and live according to Truth.

परमोच्च प्रभो सत्य नित्य त्वामेव केवलम्।
अनुवर्तामिहै सत्यं अनुजीवाम केवलम्॥

हे परम प्रभु, 'शाश्वत सत्य', हम केवल तेरी ही आज्ञा मानें और 'सत्य' के अनुसार जियें।